UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180103

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

ıll No. H 9 3.1 | R12R Accession No. G.H.1165

ıthor राधाकृष्णन |

tle राधाकृष्णन | 1446

This book should be returned on or before the date
ıt marked below.

रामलीला

[कहानी-संग्रह]

श्रीराधाकृष्ण

[राँची-निवासी]

प्रकाशक

पुस्तक-भण्डार

पटना और लहेरियासराय

१।।)

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण सं० २००३ ; १९४६ ई०

मुद्रक
श्री जयनाथ मिश्र
हिमालय प्रेस, पटना

हिन्दी के अनन्य उपासक

आचार्य बदरीनाथ वर्मा

[शिक्षा-मंत्री, बिहार]

के

कर-कमलों में

अठारह कहानियाँ

१.	रामलीला	१
२.	आदमी-आदमी	५
३.	लैला की शादी	१२
४.	क्या जाने, आगे	१५
५.	कविता और पत्थर	२१
६.	राजाराम	२६
७.	मनुष्य और पशु	३४
८.	वसीयतनामा	४२
९.	आधा हिस्सा	४८
१०.	अविनाश	५४
११.	सेकरीन	६६
१२.	आबादी	८१
१३.	बुढ़िया गुलाबी	९१
१४.	मन की शक्ति	१०६
१५.	भाषा	११९
१६.	लेखक की ज़िन्दगी	१२३
१७.	चन्द्रगुप्त की तलवार	१३८
१८.	परिवर्तित	१४८

हमारी प्रकाशित कहानी की पुस्तकें

किसलय [श्री 'द्विज', एम०ए०] ... १॥)
कानन [श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री] ... १॥)
नवपल्लव [श्री विनोदशंकर व्यास] ... १)
पद्मराग [श्री नन्दकिशोर तिवारी] ... १)
यूथिका [श्री गोपाल नेवटिया] ... ॥=)
पुरुषपरीक्षा [मैथिलकोकिल विद्यापति] ... १)
विभूति [श्री शिवपूजन सहाय] ... २)
देवता [श्री राधाकृष्णप्रसाद, बी०ए० ऑनर्स] ... ॥)
कटे पंख [,, ,, ,,] ... १)
अन्तर की बात [,, ,, ,,] ... १)
शिकारियों की सच्ची कहानियाँ [चौधरी शिवनाथ सिंह शाण्डिल्य] १॥)

[और भी कई कहानी-संग्रह हैं जिनके नये संस्करण छप रहे हैं]

पुस्तक-भण्डार, पटना और लहेरियासराय (बिहार)

रामलीला

पेशे में कोई पेशा हुआ भी तो रामलीला का दल रखने का पेशा हुआ। दूकानदारी का पेशा होता, जमींदारी होती, महाजनी होती, कोई भी, कैसा भी पेशा होता, तो एक बात थी। मगर रामलीला का दल रखने का पेशा···सो भी यह खानदानी पेशा है। सात पुश्तों से रामलीला का दल चला आता है। और रामरतन, जरा आधुनिक बुद्धि का आदमी है, सो अपने इस पेशे को पसंद नहीं करता। मगर खानदानी चीज है। रामलीला वह छोड़ नहीं सकता, अपना दल तोड़ नहीं सकता।

मगर ये जो ऐरा-गैरा नत्थू-खैरा आकर राम बनते हैं, लक्ष्मण बनते हैं, वशिष्ठ और विश्वामित्र बन जाते हैं, सो रामरतन को पसंद नहीं। यह इस प्रकार राम की पैरोडी हो जाती है, लक्ष्मण का उपहास हो जाता है, राजा दशरथ की मिट्टी पलीद होती है, और महाज्ञानी वशिष्ठ के मुँह से ज्ञान के बदले अज्ञान ही ज्यादा निकलता है। सो रामरतन रामलीला के इस पुराने ढर्रे में परिवर्तन करेगा।

और, वह रामरतन पाँच दिन से परेशान है। वह कोई ऐसा बालक खोज रहा है, जो राम का पार्ट करे। वह किसी ऐसे ही साँवले-सलोने बालक की खोज में घूम रहा है। तमाम ढूँढ़ आया, लेकिन रामरतन को ऐसा बालक नहीं मिलता। जो देखने में आते हैं, वे जी को जँचते नहीं। सबमें एक-दो त्रुटियाँ अवश्य आगे आ जाती हैं। वैसा मनचाहा बालक नहीं मिलता। न जाने मिलेगा भी या नहीं मिलेगा।

पाँचवें दिन रामरतन निराश हो गया। जब राम ही नहीं, तो रामलीला भी नहीं। वह थक गया ; शरीर से भी, मन से भी। उसे लगा जैसे वह कूड़े के अन्दर शालग्राम ढूँढ़ रहा है। भला कहाँ मिलेगा ? उसे लगा कि इस इतनी बड़ी धरती पर वह सबसे ज्यादा लाचार प्राणी है। उसकी परेशानी में कोई उसका सहारा नहीं हो सकता। भला यह रामलीला का दल क्या हुआ कि परेशानी का भाण्डार हो गया। वह थककर पार्क की एक बेंच पर बैठ गया। अगर राम का काम करनेवाला बालक नहीं मिला, तो फिर रामलीला कैसे होगी ?

कि वह देखता है कि एक वैसा ही अबोध, वैसा ही भोला, निर्मल-निश्छल, साँवला-सलोना बालक पार्क में तितलियों के पीछे दौड़ रहा है। कौन लड़का है ? किसका लड़का है ? अगर यह राम का पार्ट करे, तब तो फिर कुछ कहना ही नहीं।

उसने बालक को बुलाया। अपने पास बिठाकर उससे तरह-तरह की बातें पूछने लगा। लड़के ने कहा—मेरे पिता नहीं, मेरी मा है। वह क्या करती है, सो मैं नहीं जानता। हमारे घर में तीन गाय हैं। मा उसका दूध दूहती है। एक ग्वाला आकर उसका दाम दे जाता है। हमारे एक मामा हैं, सो बड़ी दूर रहते हैं। रंगून कहाँ है, जानते हो ? हमारे मामा वहीं नौकरी करते हैं। जब वे आवेंगे, तो मेरे लिये एक दोना मिठाई लावेंगे और एक रबर की गेंद लावेंगे। वे मेरे लिये कोट सिला देंगे और हाफपैंट खरीद देंगे। फिर कोई तकलीफ नहीं रहेगी।

इस बालक को पाकर रामरतन ने मानों आसमान का चाँद पा लिया। राम के लायक ऐसा बालक मिलना असम्भव था। थोड़ी देर के बाद वह उस बालक की मा के सामने खड़ा था और उसकी शंकाओं का समाधान कर रहा था। उसकी मा को जो हिचक थी, सो रुपयों की आवाज सुनते ही मिट गई।

रामरतन ने बालक से पूछा—क्यों भाई, राम का पार्ट करोगे न?

करूँगा!—बालक ने सरलता से जवाब दिया।

तीर चलाकर तब तुम ताड़का को कैसे मारोगे?

बालक ने छोटी-सी धनुही से तीर का ऐसा सरल सन्धान किया कि रामरतन खुशी से निहाल हो उठा। ऐसा बढ़िया बालक कभी नहीं मिलेगा, कहीं नहीं मिलेगा। यह बालक राम का प्रतिरूप है। राम का अभिनय इसके पास आकर सत्य और साकार हो उठा है।

और दूसरे दिन से ही रामलीला में दर्शकों की भीड़ तिगुनी-चौगुनी होने लगी। वह बालक राम के रूप और अभिनय को सार्थक कर रहा था।

× × ×

फिर बाईस वर्ष व्यतीत हो गये। इतने दिनों की बड़ी लम्बी अनेकानेक कहानियाँ हैं। रामरतन की रामलीला-पार्टी आज भारतवर्ष में विख्यात है। पार्टी के पास धन है, सम्मान है, प्रतिष्ठा है। मगर फिर भी रामरतन को शान्ति नहीं। अब उसकी पार्टी ग्वालियर में आई है। महाराज ने खास तौर पर उसकी रामलीला-पार्टी को निमंत्रण दिया है। लोग उत्सुक हैं। मगर रामरतन जानबूझकर पंद्रह दिनों से देर कर रहा है। उसके पास रावण की कमी है। जो व्यक्ति रावण का काम

करता है, वह रामरतन को ही पसंद नहीं, फिर उसे ग्वालियर के नरेश कैसे पसंद करेंगे ? इतनी बड़ी इस पृथिवी पर उसे एक रावण नहीं मिलता। रामरतन रावण खोज रहा है और परेशान हो रहा है। रावण की प्रतिच्छवि कहीं दीखती नहीं। उस रावण के भयानक चेहरे पर क्रोध था, हिंसा थी। उसके भारी गले से कर्कश आवाज निकलती थी। हाँ, ऐसा ही रावण होना चाहिये, ऐसा ही रावण रामलीला में सजेगा, ऐसा ही रावण जगतमाता जानकी का हरण कर सकता है।

और, आखिर ऐसा ही एक व्यक्ति उसे एक शराबखाने में दिखलाई दिया। उसके चेहरे पर अभिमान और क्रूरता थी। कर्कश-कण्ठ से गालियों की बौछार निकल रही थी। दूकानदार से वह मुफ्त में शराब माँग रहा था; लेकिन शराब के बदले दोनों में बेशुमार गालियों का विनिमय होने लगा था। हाँ, यही व्यक्ति है, जो चाहे तो रावण बनकर सचमुच सज सकता है। चेहरे पर कैसी भयानकता है, आँखों में कितना कमीनापन है। यह साधु का कपट वेश धारण करके सीता के पास जायगा तब भी मन, वाणी और रूप की भयानकता नहीं मिटेगी। देखते हो लोग कह देंगे, यही रावण है, कपटी, बदमाश !...

रामरतन आगे बढ़ गया और दूकानदार के सामने चवन्नी फेंक कर बोला—भाई, मेरी ओर से इन्हें पिला दो ; एक बोतल !

ऐं ! रावण की प्रतिच्छविवाला व्यक्ति बोला—तू तो बड़ा दयावान् है, यार ! बतला, मैं तेरा क्या काम करूँ ? तू मुझसे क्या काम लेगा ?

रामरतन ने कहा—मेरी एक रामलीला-पार्टी है ; मैं उसमें तुम्हें रावण का पार्ट देना चाहता हूँ।

रावण ?...अच्छा, मैं करूँगा।

और, सचमुच उसके द्वारा रावण का काम सबसे अच्छा हुआ। रामलीला समाप्त होने के बाद रामरतन ने उससे पूछा—बोलो, आज पुरस्कार में मैं तुम्हें क्या दूँ ?

रावण ने कहा—मैं आपसे पहले भी बहुत कुछ पा चुका हूँ ; अब आज क्या माँगूँ ?

पहले ? रामरतन ने आश्चर्य से कहा—मैंने तो पहले तुम्हें कभी देखा भी नहीं !

हाँ, आप मुझे नहीं पहचान सके ; लेकिन मैंने आपको पहले दिन ही पहचान लिया था। मैं वही आदमी हूँ, जो लड़कपन में आपके यहाँ राम का पार्ट किया करता था। उसके बाद मेरे मामा आकर आपसे मुझे ले गये। याद कीजिये। मैं वही आदमी हूँ। एक दिन आपके यहाँ मैं राम बनता था। याद आया ?

हाँ, रामरतन को अब सब याद आ गया। रावण के उस भयानक चेहरे के भीतर से रामरतन को राम की वही साँवली-सलोनी निर्मल छवि फूटती हुई-सी दिखलाई पड़ी। वह आश्चर्य से चकित होकर बोल उठा—हाँ, तुम वही राम हो। मुझे याद आ गया, तुम वही राम हो।

आदमी-आदमी

जैसे जल्दी-जल्दी आसमान में कोई स्याही के धब्बे फेर रहा हो, सारा खेल बिगड़ा जाता था और काली घटाएँ उमड़ी आती थीं। हँसता हुआ सूरज एकाएक ओट में चला गया। पुरानी प्रकृति की नई शोभा गर्द-गुब्बारों से ढक गई। ऊपर का नीला आसमान काला-धुन्ध

हो गया था, नीचे की धरती धूल के मारे दिखलाई नहीं देती थी। और, जैसे कोई चमचम चमकती तलवार खींचकर गर्जन कर उठे, उसी तरह बिजली चमका कर बादल गरजने लगा। हवा तेज थी; विभ्रान्त-दिग्भ्रान्त पागल की तरह बेतहाशा उड़ रही थी। पता नहीं, किधर की हवा किधर जा रही थी, किस ओर की आती हवा में उसी ओर जाती हुई हवा टकरा रही थी, भीतर रेलतो-पेलती चली जा रही थी। पेड़ की सूखी टहनियाँ टट् टट् टूट रही थी; टूट रही थीं और गिर रही थीं। चिड़ियों के कमजोर डैने हवा के उन तेज और अप्रत्याशित झोंकों को नहीं सँभाल पाते थे। मैच के फुटबॉल की तरह वे किसी खास दिशा की ओर नहीं जा पाती थीं। विवश, व्याकुल, वे शीघ्रतापूर्वक अपने घोंसले की ओर उड़ रही थीं।

मगर यह सब कुछ असमय का था। वे वर्षा के दिन नहीं थे। वर्षा की कोई उम्मीद भी नहीं हो सकती थी। वह न जाता हुआ जेठ था और न आता हुआ आश्विन। अन्धड़-तूफान और बारिश का वह मौसम नहीं था। वह फागुन का महीना था, जब पुराने पीले पत्ते गिरते हैं; जब लाल-गुलाबी नई कोपलें फूटती हैं। आम की मंजरी की स्निग्ध मादकता छाती के भीतर भर जाती है और मौलसरी की मतवाली सुगन्धि मन-प्राण-मस्तिष्क में मूर्च्छना ले आती है।

उस दिन सामू जब घर से निकला था, तो अनायास गा उठा था—"चलु दइया, आजु खेलैं होरी"; इस गीत के गाने की उसने कोई तैयारी नहीं की थी। वह घर से निकला तो लाल-गुलाबी पत्ते टहनियों पर शोभा पा रहे थे। आम की मंजरी की मादक सुगन्धि से हवा कोमल, नशीली और भारी मालूम हो रही थी। और जब दूर किसी

डाल में बैठी हुई कोयल कूक उठी, तो सहसा सब कुछ भूलकर उसे याद हो आया कि यह फागुन का महीना है। नहीं-नहीं, फागुन तो अब चल-चला। सोमवार-सोमवार आठ, और मंगल नौ। नवें दिन अब मंगल को होली होगी। सोमवार की रात को संवत् जलेगा। उसी समय से डफ और मजीरे बजने लगेंगे···सामू ने एकाएक यह अनुभव किया। अनुभव करते ही गा उठा ··।

वह अपने खेतों की ओर गया था। जरा भी देर न हुई कि आसमान का रंग बदलने लगा। उफ्, कैसी आँधी! ऊपर बादल उमड़ रहे हैं, नीचे पेड़ की डालें पागल की तरह अपना माथा धुन रही हैं। आँखों में धूल की ढेर-सी घुसी आती है। आगे का एक पग भी दिखलाई नहीं देता। आये बेर भी नहीं हुआ कि जाने को अबेर हो गया। लो पानी की बूँदें भी पड़ने लगीं। टपाटप-टपाटप; बड़ी-बड़ी विकट बूँदें। बौछार से जैसे कंकड़ की तरह चोट लगती थी। उसने अपना कुदाल कंधे पर ले लिया, और घर की ओर दौड़ चला।

जरा सामू को ठीक से पहचान लें। उस तरह के आदमी को पहचानने में कोई दिक्कत नहीं पड़ती। देहात का आदमी है। अपढ़ है, इसलिये ज्यादा अक्ल नहीं रखता। गरीब आदमी है, इसलिये काम ज्यादा करना पड़ता है। काम ज्यादा करता है, इसलिये स्वास्थ्य ठीक है। स्वास्थ्य की चमक उसके चेहरे पर है। साँवले चेहरे पर एक तेज है। वह तेज आँखों में कम पड़ गया है। उम्र उसकी तीस हो, बत्तीस हो, मगर वह पैंतीस से ज्यादा कभी नहीं है। जवान आदमी, देहात का जवान। चट्टान-जैसी छाती मालूम होती है, मुग्दर की तरह बाँहें। उसे गर्व है कि वह परिश्रम करते समय सबके बाद हाँफता है। उसे गर्व है

कि वह बैलों और साँड़ों का झगड़ा छुड़ा सकता है ! वह छाती ठोंककर गाँव में इस बात का एलान करता है कि सड़ियल बैल लेकर जितनी जमीन हम जोतेंगे, पानीदार बैलों से भी तुम दिनभर में उतना नहीं जोत सकोगे।

वह गरीबी में रहता था और गरीबी को जानता था। गरीबी उसकी चिरपरिचित चीज थी। गरीबी में जन्मा, पला, बड़ा हुआ। अभी भी आगे-पीछे चारों ओर गरीबी है। गरीबी नई चीज नहीं, पुरानी चीज नहीं, यह तो अपनी चीज है। अमीरी रुपयों से होती है। अमीरी वह नहीं जानता। अमीरी उसने दूर से देखी है, जानी नहीं है। उसके लिये जानने-बूझने की यह चीज भी नहीं। वह इतना ही जानता है कि ऊपर भगवान है, नीचे उसकी माया है। माया में सब लोग रहते हैं। और सबकी अपनी-अपनी तकदीर है। सब तकदीर का खेल है। खेल खत्म हुआ और छुट्टी मिली। आधुनिक गम्भीर सिद्धान्तों का उसने मनन नहीं किया था। कार्लमार्क्स का उसने नाम भी नहीं सुना था।

वैसा आदमी फिलॉसफर नहीं होता। सूरज को वह देवता जानता था। चाँद में वह अमृत मानता था। धरती उसके लिये माता थी। धरती-माता अन्न देती है, धन देती है, जीवन देती है। जिसकी जितनी बड़ी तकदीर है, उसकी उतनी बड़ी धरती है। तकदीर जो देती है, उसे ले लो; जो नहीं देती, उसके लिये हल्ला मत करो। उसने प्रकृति के सुन्दर दृश्य देखे थे, मगर कविता की तरह कुछ सोचा नहीं था। सुन्दर को वह सुन्दर कह सकता था। वह नहीं जानता था कि सौन्दर्य क्या है। उसने नहीं जाना था कि सौन्दर्य क्यों है। उसने सोचा भी नहीं था कि सौन्दर्य का उपयोग और उपभोग कैसा होता है।

उसने जीवन में एक बार सिनेमा देखा था। दो बार एक-एक आने में साबुन की खुशबूदार बट्टी खरीदी थी। तीन बार काले कपड़े का कोट सिलवाया था। चार वर्ष पहले वह चार आने में अपने लिये एक आईना लेना चाहता था, मगर उसके पास बस पन्द्रह पैसे थे। एक और अगर सोलहवाँ होता, तो आईना उसका हो गया होता।

उसके पास थोड़ी-सी धरती थी। उसमें गेहूँ होता था। एक छोटी-सी बारी थी। वहाँ साग, कद्दू, मूली और कटहल होते थे। एक हल था, तीन बैल थे, चार बकरियाँ थीं। छोटा-सा एक घर था। घर में दो कमरे थे। एक में वह स्वयं रहता था, दूसरे में पशुओं को रखता था। खुले आँगन में हल पड़ा रहता था।

मेल-मुलाकात, जान-पहचान, व्यवहार-बातचीत उसकी सबसे थी; लेकिन सच्चा साथी थी उसकी स्त्री। स्त्री का नाम था कुसुमी। नाटी, गोरी और चंचल। वह पीतल का नथ पहनती थी। उसके हाथ में गिलटी की चूड़ियाँ थी। उसकी साड़ी में हरसिंगार का रंग था।

घर में पहुँचकर सामू ने अनुभव किया कि बाहर एक बादल बरस रहा है और अन्दर एक बादल बरसने की तैयारी कर रहा है। कुसुमी का मुँह भारी था। वह स्तब्ध थी। स्तब्धता में खोई हुई, जैसे बहुत कुछ कहने को रास्ता खोज रही थी। रास्ता, सामू ने खयाल किया, मैं हूँ।

और वही हुआ। कुसुमी आँसुओं में उबल उठी, कण्ठस्वर की दीप्ति में उबल उठी। अपनी असहिष्णुता का उसने बारम्बार उल्लेख किया। बात वह जरा-सी थी। जमींदार के यहाँ उर्द की बड़ी बननेवाली थी। बने, इसमें कोई हर्ज नहीं; लेकिन मुझे क्यों बुला भेजा? मैं कोई दबैल

हूँ, कि उनका दिया खाती हूँ, अथवा मालगुजारी नहीं देती हूँ ? बेगार लेने के दिन गये। मैं नहीं गई। मेरा पैर भारी है।

तो बेगार के बारे में जो कई रीम कागजों का साहित्य तैयार हुआ है, सो बेकार नहीं गया। कुसुमी भी आज बेगार देने से अस्वीकार कर गई। मगर भावी अमंगल की कल्पना उसे धमका रही थी। इसीलिये वह अपने पति से एक को अनेक बना रही थी। एक को अनेक बनाती हुई वह अपने हृदय का बल अपने पति के वचनों में खोज रही थी। बस, यही किस्सा है। कारण यही था कि उसका पैर भारी था।

मगर सामू सोच रहा था कुछ दूसरा। आज वह बड़े बाबू से मिलेगा। वे पंचायती खेती के बारे में बातें करते हैं। वे गोरे मुल्क के गोरे किसानों की बातें बतलाते हैं; सामू जरा उनसे मिलेगा और पूछेगा, कि भैया, बेगारी के दस्तूर का विरोध सिर्फ बातों से ही क्यों करते हो, कुछ काम से भी करो !

वे जमींदार के बड़े लड़के थे, इसलिये बड़ा बाबू कहलाते थे। कॉलेज की पढ़ाई समाप्त करके जब वे गाँव में आते, तो बड़े परिश्रम से ग्रामीण नवयुवकों को टेनिस खेलना और उसका हिसाब जोड़ना सिखलाते थे। उनके विचार ऊँचे थे। शोषण की अपेक्षा वे पोषण को गौरव मानते थे। वे नये जमाने के साथ थे और दुनिया को नये रंग रूप में देखना चाहते थे। उनके विचारों की गहराई कभी किसान नहीं समझ सके। हाँ, उन्होंने इतना अवश्य समझा था कि बड़े बाबू के रूप में कोई एक हमारा हितचिन्तक है। उसका चिन्तन हमारे विकास के लिये है। उसके विचार हमारे उत्थान की भूमि हैं। वह हमारे लिये

जहर लेकर नहीं चलता, बड़ा बाबू हमारे लिये अमृत लाया है। चेहरा भी सुन्दर, हँसी भी सुन्दर, विचार भी सुन्दर। बड़ा बाबू हजारों लाखों में एक है।

बड़े बाबू महल में रहकर झोपड़ियों की बातें सोचते थे। अध्ययन और चिन्तन, चिन्तन और अध्ययन। तमाम देश के किसानों के बारे में वे पूरी जानकारी रखते थे। वे अपने किसानों के लिये भी एक महान् स्कीम की तैयारी किये बैठे थे। मगर मुश्किल थी। शायद किसान उनकी बात समझ नहीं पाते थे, या ये समझा नहीं पाते थे।

शाम को प्रकृति शान्त हो गई थी। दो घंटे तक बारिश हुई। फिर हवा आई और तमाम बादल बिखर गये। शाम का लाल सूरज डूबता हुआ दिखलाई दिया। पीली किरणें पेड़ की फुनगियों पर चमचमाने लगीं। चिड़ियों की बोली में आज मृदुता थी। हवा में कुछ-कुछ जाड़ा लौट आया था। सामू ने एक चादर ओढ़ ली और बड़े बाबू से मिलने चला।

बड़े बाबू अपने कमरे में थे। उनकी आँखों में चिन्तन का रंग था, होठों पर मुस्कान की छाया थी। बैठे हुए वे कोई पुस्तक पढ़ रहे थे। बड़े बाबू सुन्दर और दर्शनीय व्यक्ति थे। नौजवान ब्रह्मचारी, दीप्त चेहरा, जैसे उत्साह की किरणों से उनका निर्माण हुआ हो। सामू आया, सत्कार के साथ सलाम करके उसने कहा—'सुना आज हवेली से हमारी घरवाली की बुलाहट हुई थी।'

बड़े बाबू ने उसकी ओर चिढ़भरी आँखें उठाईं; रुष्ट आवाज में जवाब दिया—'और वह नहीं आई, यह सुनकर मुझे बुरा मालूम हुआ। यह आदत ठीक नहीं कि अगर कोई तुमसे स्नेह करता हो, तो तुम उसके सिर चढ़ जाओ।'

इसी समय उनका पैर कुछ हिला। टेबिल पर की एक किताब फिसली और नीचे गिर गई। जिल्द मढ़ी हुई सुन्दर किताब थी। उसके सुनहले अक्षर चमक रहे थे। सामू ने झुककर उस किताब को उठा लिया और आदर से टेबिल पर रख दिया। वह किताब थी कार्लमार्क्स की 'कैपिटल'। बड़े बाबू की दृष्टि में यह स्वर्ग से अवतीर्ण किताब थी। वे इसे गुरुग्रन्थ मानते थे। उन्होंने एक नजर उस किताब पर डाली और दूसरी निगाह सामू की ओर उठाई। कहा—'अब आइन्दा तुम्हारी घरवाली ऐसा फिर न करे, हाँ!'

सामू ने उनकी यह मनोवृत्ति समझ ली और स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिला दिया। वह यह कहना भी भूल गया कि उसकी स्त्री का पैर भारी है।

लैला की शादी

आखिर को लैला की माँ ने मंजूर कर लिया; कहा—अब लैला को मजनू के हाथ ही सौंप दूँगी!

सुननेवाले इस समाचार से खुश हो गये। लोगों ने लैला की माँ को बधाइयाँ दीं। मजनू बिचारा कितनी मुद्दत से लैला के पीछे तड़प रहा था। आशिकी के कारण वह इस दुनिया और उस दुनिया दोनों जगह बदनाम हो गया था। मिट्टी भारी हो गई थी और प्राणों में केवल आह भर ही बच रही थी। चलो लैला की माँ का यह फैसला बड़ा अच्छा हुआ। आशिक-माशूक की जोड़ी मिल जायगी। दोनों का भला होगा।

और उधर लैला की माँ शादी का बजट बना रही थी—सत्तर गज किमखाब, एक सौ सत्तर गज तंजेब, सत्रह बोरे गेहूँ, बीस बोरे चावल, पन्द्रह कनस्तर घी···!!

बजट तो बन गया, पास-पड़ोसवालों ने पास भी कर दिया; लेकिन अब सौदा कैसे मिले ? लैला की माँ ने बाजार में पहुँचकर देखा कि किरानावालों के यहाँ खरीदारों का मेला लगा हुआ है, किरासन तेलवाले अपनी-अपनी दूकान बन्द करके सो रहे हैं, बाजार की दूकानों में लाठियाँ चल रही हैं। लैला की मा घबरा गई। भीड़ के इस धक्के में हड्डी-पसली किसी का भी पता नहीं मिलेगा। या खुदा, अब मैं क्या करूँ ?

सहसा अँधेरे में बिजली की चमक की तरह वहाँ मजनू दिखलाई दे गया। शादी की खुशी में वह अपने दोस्तों के साथ सैर करने को निकला था। लैला की माँ उसके पास पहुँचकर गिड़गिड़ाने लगी—शादी क्या हुई, आफत हो गई; कोई भी जिन्स नहीं मिलती बेटा! देखो, मदद करो, तुम्हारी ही शादी की चीजें है। शुक्रगुजार होऊँगी।

मजनू हक्का-बक्का। आँखें फाड़कर उसने पूछा—तुम चाहती हो कि इस भीड़ में घुसकर मैं गेहूँ खरीद लाऊँ ?

हाँ, बेटा ! ज्यादा नहीं ; फकत सत्रह बोरे !

सत्रह बोरे ! सुनते ही मजनू की आँखों के आगे सत्रह हजार तारे नाचने लगे। आसमान को घूँसा मार आना आसान है; लेकिन सत्रह बोरे गेहूँ खरीद सकना उससे भी ज्यादा मुश्किल है। पसीने-पसीने होकर मजनू ने जवाब दिया—यह तो नामुमकिन है अम्माजान! तीन सेर का सवाल हो तो कहो ; मैं लँगोट कसकर और लैला का नाम लेकर भीड़ में घुस जाता हूँ और तीन सेर गेहूँ खरीद लाता हूँ।

लैला की माँ ने कहा--लेकिन शादी की बात है; सत्रह बोरे से कम में तो काम चल नहीं सकता।

मजनू ने एक आह भरकर जवाब दिया—अब शादी हो या न हो, सत्रह बोरे गेहूँ तो तुम्हें किसी हालत में नहीं मिल सकता।

मजनू के जवाब से लैला की माँ की हिम्मत टूट गई। आँखों में आँसू भरकर बोली—तो क्या तुम चाहते हो कि गेहूँ के चलते मैं तुम्हारे साथ लैला की शादी मंसूख कर दूँ ?

मजनू ने कहा–चाहता तो मैं नहीं हूँ ; लेकिन लाचारी है !

तो यह शादी नहीं होगी ?

शादी तो हो सकती है ; लेकिन शादी में गेहूँ नहीं होंगे ।

मैं कहती हूँ, गेहूँ के बिना शादी नहीं हो सकती !

तो शादी मुश्किल है !

यानी तुम कुछ कर न सकोगे ?

इस मामले में मैं कर ही क्या सकता हूँ ?

× × ×

तब लैला की माँ आँखों में आँसू बहाती बाजार में खड़ी थी।

शहर के नामी गुण्डे उसमान की नजर उस ओर गई। लैला की माँ के पास पहुँचकर वह उसके रोने का कारण पूछने लगा।

लैला की माँ रोती गई, सिसकती गई, फफकती गई और कारण बताती गई। सब कुछ सुन लेने के बाद उसमान ने कहा—इन सारी चीजों का मिलना कोई बड़ी बात नहीं है। तुम जो कहो मैं सारी चीजें खरीद दूँ; लेकिन दुनिया में एक मजनू ही तो लड़का नहीं। मैं भी लैला के लिए कब से तरस रहा हूँ ; लेकिन हाँ, मजनू की तरह चिल्ला-

चिल्लाकर मुझसे आह नहीं भरी जाती। तो देखो, अगर लैला की शादी मेरे साथ कर सको···

और भीड़ को चीरकर उसमान दूकानदार के पास पहुँच गया—क्या सेठजी, लगाऊँ दो रद्दे या देते हो सत्रह बोरे गेहूँ ?

दूकानदार ने घबराकर कहा—सत्रह बोरे !

हाँ-हाँ, सत्रह से लेकर सत्रह सौ बोरे तक गेहूँ तुम्हें देना पड़ेगा, समझ रखो, वर्ना तुम हो और मैं हूँ !

दूकानदार उसमान के कान में जाकर फुसफुसाने लगा —भाई, तुम्हें जो-जो चीजें चाहिए उसकी लिस्ट देते जाओ ; मैं सारी जिन्स जहाँ तुम कहो वहीं पहुँचवा दूँगा। दाम के लिए भी कोई बात नहीं। हाँ !

और गेहूँ, गल्ला, कपड़े, किरासन, सब ठेले पर लद-लदकर लैला की माँ के दरवाजे पर पहुँचने लगा।

× × ×

अब आज के समाचारपत्र में पढ़ रहा हूँ कि लैला की शादी उसी उसमान से होनेवाली है। मजनू बेचारा निराश होकर मिलिटरी में भर्ती हो गया।

——

क्या जाने, आगे

[एक मकान, बढ़िया। दरवाजे पर गमले और फूल। सीढ़ी पर औरतों की भीड़]

१ औरत—महामाया का पति बड़े भाग्यवाला है !

२ औरत—वह हँसकर बोल सकता है !

३ औरत—वह दोनों वक्त खा सकता है !

४ औरत—उसकी अमीरी की हद नहीं !

५ औरत—उसने कल एक जोड़ा साड़ी खरीदी है !

सभी—साड़ी ??···!!! (महान् विस्मय ! अलौकिक घटना !!)

१ औरत—कैसी साड़ी ?

५ औरत—हाँ, दो पाढ़ की साड़ी है, बढ़िया रङ्गीन किनारी !

सभी—धन्य हैं महामाया के भाग्य !

१ औरत—(पुकारना) महामाया देवी ! ओ महामाया !! (महामाया का आना)।

महामाया—क्या है ?

२ औरत—सुना तुम्हारे लिये साड़ी खरीदी गई है !

महामाया—हाँ, खरीदी तो गई है ! तुमने कैसे जाना ?

३ औरत—अखबारों में पढ़ा है ! रेडियो में सुना है ! चारों ओर शोहरत मच गई है कि महामाया देवी के पति ने साड़ी खरीदी है !

महामाया—हाँ, मेरे पति ने अपार पराक्रम और अपूर्व शौर्य दिखलाया है। उन्होंने साड़ी खरीदी है।

४ औरत —भई देखें जरा ; हमने महीनों से कोई नई साड़ी नहीं देखी है।

महामाया—अच्छा, लाती हूँ ! [अन्दर जाकर बहुत-सी नई चीजें लाकर टेबिल पर रखती है। साड़ी, जूता, आटा, घी, आभूषण आदि हैं। औरतें टेबिल पर टूट पड़ती हैं और पूछती हैं]

१ औरत—भई, साड़ी तो बड़ी अच्छी है। कैसे जोड़ी के भाव मिली ?

महामाया—कण्ट्रोल-रेट तो दूसरा है; लेकिन आजकल साड़ी बारह सौ रुपये जोड़े के भाव बिक रही है !

२ औरत—यह जूता ? बड़ा बढ़िया है, कीट लेदर !

महामाया—कीट लेदर नहीं, काफ लेदर !

३ औरत—काफ़ लेदर !! (महान् आश्चर्य ! सुनते ही वह औरत चक्कर खाकर बेहोश हो जाती है।)

महामाया—पानी दो, बिचारी को पानी दो !! (घबराहट)

३ औरत—(पड़े-पड़े) पानी नहीं, पानी से मुझे कुछ नहीं होगा। मुझे पाव भर सत्तू खिलाओ तो होश आ जाय।

५ औरत—अभी तक लोग संसार में काफ लेदर की चीज़ खरीद सकते हैं !

६ औरत—सो भी गृहस्थ औरत !

४ औरत—यह काफ लेदर का शू कितने में खरीदा गया है, महामाया देवी ?

महामाया—ग्यारह हजार बीस रुपयों में !

सभी—अहा, धन्य हो महामाया, धन्य तेरे भाग्य !

१ औरत—हमें चाहिये कि हम महामाया देवी की आरती उतारें !

२ औरत—ये काफ़ लेदर का शू खरीद सकती हैं।

३ औरत—इनके लिए बारह सौ रुपयों में नयनसुख की धारीदार साड़ी खरीदी गई है।

४ औरत—हम इनका पूजन करें।

५ औरत—आओ, हम सब इस महान् देवी के सामने अपना माथा झुकावें।

[भक्तिपूर्वक सभी माथा झुकाती हैं]

७ औरत—महामाया देवी, आप तो सोने के गहने भी गढ़ाती होंगी ?

महामाया—हाँ, कभी-कभी !

७ औरत—सोना आजकल क्या भाव है ?

महामाया—आठ हजार रुपये !

५ औरत—आठ हजार रुपये तोला तो बड़ा महँगा है।

महामाया—तोला ? नहीं देवी, सोना आजकल आठ हजार रुपये रत्ती के भाव मिलता है !

४ औरत—और गेहूँ ?

महामाया—तीन सौ बासठ रुपये !

५ औरत—(साश्चर्य) तीन सौ बासठ रुपये मन !

महामाया—मन नहीं, पसेरी !

५ औरत—पसेरी ! हे भगवान् !! (चक्कर खाकर गिरना)

१ औरत—पानी दो बिचारी को ! नहीं, एक तोला सत्तू दे दो !

५ औरत—(पड़े-पड़े) नहीं-नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिये। मुझे एक पसेरी गेहूँ दिखला दो, मैं उसे देखते ही स्फूर्ति और बल पा लूँगी।

[दृश्यान्तर]

[महामाया देवी का सुन्दर ड्राइङ्ग रूम। उस सजे-सजाये ड्राइङ्ग-रूम में श्री विष्णु भगवान् का प्रकट होना।]

श्री विष्णु— (गाना—राग धनाश्री) हम भक्तन के भक्त हमारे। सुनु अरजुन परतिज्ञा मेरी, यह ब्रत टरत न टारे।

[विष्णु भगवान् मगन-मन गीत गा रहे हैं। दूसरी ओर माथा हिलाते, वीणा बजाते श्री नारदजी प्रकट होते हैं।]

श्री नारद—(गाना राग सोरठ) ऐसो को उदार जग माहीं। बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं।

(गाना को टेक पर पहुँचाकर तावड़तोड़ वीणा बजाते हैं, धुन में माथा धुनते हैं कि दृष्टि श्री विष्णु भगवान् पर पड़ती है। श्री नारद साश्चर्य मुँह फाड़ देते हैं।)

श्री नारद—अहा श्री भगवान् हैं ! नमो नमो, भगवन् !! (नमन)

श्री विष्णु—क्यों नारद, प्रसन्न तो हैं आप ?

श्री नारद—हाँ, कृपानिकेतन, मैं प्रसन्न हूँ ; पर मुझे अभी तक दुख यही है कि मैं आज तक आपकी लीलाओं को नहीं जान सका। आज आप इस मर्त्यलोक-वासिनी सुन्दरी के कमरे में कैसे ?

श्री विष्णु—नारद, यह अवतार हुआ है !

श्री नारद—अवतार ?

श्री विष्णु—हाँ नारद, अवतार !

श्री नारद—कैसा अवतार, भगवन् ?

श्री विष्णु—कैसा अवतार ? हे नारद मुनि, क्या तुमने गीता नहीं पढ़ी ? गीता पढ़ो नारद ! अगर संस्कृत समझ में न आवे, तो लोकमान्य तिलक का कर्मयोग-शास्त्र पढ़ो। मैंने अर्जुन से कहा था—यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत·····

श्री नारद—सो तो विदित है भगवन् ! लेकिन इस धनशाली व्यक्ति के यहाँ आपने क्यों अवतार लिया ?

श्री विष्णु—हे नारद, आज तक हमारा अवतार किसी गरीब के यहाँ हुआ नहीं, तो फिर आज मैं अपने सनातन धर्म की परम्परा को कैसे तोड़ूँ। मेरा अवतार निर्धन के यहाँ नहीं होता।

श्री नारद—किन्तु भगवन्, धर्म की ग्लानि का फल तो निर्धन भुगत रहे हैं। दीनानाथ, वे मर रहे हैं, सचमुच मर रहे हैं।

श्री विष्णु—इसके लिए मैंने यमराज को शिक्षण दे दिया है कि भारतीय निर्धनों को शीघ्र न मरने दें। जब वे तिल-तिल करके बिल्कुल मर ही जायँ तब उन्हें यमलोक में पहुँचाया जाय।

श्री नारद—प्रभो, संसार में प्रबल अनाचार है। आजकल संसार में फासिज्म नाम का असुर उत्पन्न हो गया है। उसका नाश होना चाहिए भगवन्!

श्री विष्णु—होगा नारद; संसार के समस्त असुरों का नाश होगा! इसीलिए मेरा अवतार हुआ है।

श्री नारद—और इस देश के कोटिपति और लक्षाधीश तो फासिस्त असुरों से भी अधिक भयानक हैं। वे वाणिज्य के स्टॉक नाम की वस्तु को गुप्त और लुप्त करने की कला में दक्ष हो गये हैं। इससे भारतवर्ष की मानवता को अपार कष्ट हो रहा है।

श्री विष्णु—(सुदर्शन चक्र हिलाकर) मैं इन स्टाकी वणिकों को यमलोक भेजूँगा। मैं भारत का कल्याण करूँगा।

श्री नारद—मगर भगवन्, शान्त हूजिए। मेरी बात सुनिये; आप का यह अवतार व्यर्थ ही हुआ। आप कुछ नहीं कर सकेंगे।

श्री विष्णु—क्यों नारद?

श्री नारद—क्या आपने डी० आई० आर० तथा दूसरे समस्त आर्डिनेंसों का अध्ययन नहीं किया है?

श्री विष्णु—नहीं नारद, क्या वेद के बाद भी कोई ऐसी पुस्तक है जो मेरे अवलोकन की अपेक्षा करती हो?

श्री नारद—हाँ भगवन्, डी० आई० आर० के सभी नियम और उपनियम, धाराएँ और उपधाराएँ।

श्री विष्णु—तो उसके अध्ययन से मुझे क्या मालूम होगा ?

श्री नारद—[अपनी झोली से निकालकर ग्रन्थ देते हुए] अध्ययन अवलोकन करके देख लीजिए। अगर फिर भी आपको अवतार लेने की आवश्यकता जान पड़े तो शुभ ही होगा।

श्री विष्णु—लाओ, देखें। अब तुम जा सकते हो।

[नारद का अन्तर्धान होना। श्री विष्णु मन लगाकर डी० आई० आर० का अध्ययन करते हैं। पढ़ते-पढ़ते उन्हें ज्ञान हो जाता है कि अब अवतार लेकर कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी पढ़ते ही जाते हैं। पढ़ते-पढ़ते अकस्मात् उनकी ज्योतिर्मयी चतुर्भुज मूर्त्ति अन्तर्धान हो जाती है, मानों किसी ने बिजली-बत्ती की स्विच बन्द कर दी हो। कमरे में झुटपुटा हो जाता है, अँधेरे के समान।]

[परदा]

कविता और पत्थर

बात पुरानी है। इस्लामी राज्य का सूर्य अस्त हो रहा था और अँगरेजों के सितारे बुलंद होने लगे थे। सभी राजे-महाराजे, अमीर-उमराव अपने को परमात्मा की भाँति स्वयम्भू और स्वतंत्र समझने के पीछे अपनी बुद्धि और शक्ति खपा रहे थे। जो थे सो वही थे, और उनके सिवा मानों और कोई दूसरा नहीं था। यही उनका आत्म-गौरव था कि वे असंगठित थे और प्रत्येक विषय में अपनी इच्छा

को ही सर्वोपरि समझते थे। बुद्धिहीन-भित्तिहीन वे अपनी शक्तिहीनता को नहीं समझते थे। अपनापन और अपनी निरंकुशता उन्हें इतनी प्यारी थी कि इसके लिये चाहे तो अपना सिर कटा सकते थे, चाहे किसी दूसरे निरंकुश के सामने अपना सिर झुका सकते थे। वही जमाना था।

उसी जमाने में शक्ति सिंह बड़े भारी जमींदार थे। तमाम उनका नाम था। उनके दरवाजे के सामने कटहल के पेड़ की छाया में बैठ कर दो राजपूत नंगी तलवारों से पहरा देते थे। उनका मकान गढ़ कहा जाता था, जिसके आगे-पीछे की दीवारें दरक गई थीं और उन दरारों में से नये-नये पेड़-पौधे अपनी हरियाली लेकर झाँकने लगे थे।

शक्ति सिंह का दीवानखाना बड़ा विशाल था। कहते हैं कि दस जोड़े पहलवान उसके अन्दर दौड़-दौड़ कर कुश्ती लड़ सकते थे। वहाँ की दीवारों पर बारहसिंगा के सींग सिर-समेत लटकते रहते थे। तीन-चार शेर-बब्बर और चीते के चमड़े थे। एक गौर का भी विशालकाय चमड़ा (सिर-सहित) वहाँ की दीवार पर शोभायमान था। दीवान-खाने में एक लम्बी-चौड़ी जाजिम बिछी रहती थी। उस जाजिम के ऊपर शक्ति सिंह अपनी ढाल को ढकनी की तरह औंध कर रखते थे। ढाल के पास नंगी तलवार को रखकर बड़ी शान से मसनद पर अकड़ जाते थे। उसके बाद उनके लिये सिर्फ एक ही काम था, मूँछों पर ताव देना। उस समय के फैशन के अनुसार शक्ति सिंह की बढ़ी हुई लम्बी दाढ़ी दो भागों में विभक्त थी। दाढ़ी का एक कोना पूरब की ओर चला गया था और दूसरा कोना पश्चिम की ओर शोभायमान होता था। उनके वंश में सुरापान का निषेध था, इस कारण वे वीरा-

सन में बैठकर इस तरह गाँजे का दम लगाते थे कि तमाम दरबारी एक स्वर से पुकार उठते थे—श्रीमान् तो भगवान शङ्कर के अवतार हैं! शक्ति सिंह की आँखें लाल रहती थीं और वे उदारता के अवतार समझे जाते थे। कोई भी याचक या कैसा भी व्यापारी उनके दरबार से निराश होकर नहीं जा सकता था।

उस दिन शक्ति सिंह का दरबार पूरी रौनक पर था। इसी समय एक व्यक्ति वहाँ आकर उपस्थित हुआ। वेश-भूषा तथा चेहरे-मोहरे से वह परदेसी मालूम होता था। पीठ पर एक छोटी-सी पेटी थी जिससे साफ मालूम होता था कि वह कोई व्यापारी है। दरबार में पहुँच कर उस व्यापारी ने बहुत ही झुककर शक्ति सिंह को सलाम किया। यह कहना कठिन है कि उस सलाम में सम्मान की मात्रा अधिक थी अथवा खुशामद का अंश ज्यादा था। शक्ति सिंह ने इस धीमेपन के साथ उस सलाम को स्वीकार किया मानों उन्हें माथा हिलाने में या सलाम का सप्रेम उत्तर देने में भी कष्ट हो रहा हो।

किसी के कुछ पूछने के पहले ही उस व्यापारी ने कहना शुरू किया—श्रीमान्! मैं गुजरात की ओर का रहनेवाला व्यापारी हूँ। मेरे पास एक-से-एक अच्छे-अच्छे पत्थर हैं।

'पत्थर?' शक्ति सिंह ने पूछा 'कहाँ के पत्थर—चुनार के?'

व्यापारी ने चौंक कर कहा—'नहीं श्रीमान्, मेरे पास रतन-जवाहरात हैं।'

दरबारियों के मुँह पर मुस्कान खेल गई; लेकिन शक्ति सिंह का चेहरा वैसा ही बना रहा। उन्होंने बहुत गम्भीरतापूर्वक कहा—निकालो; देखें! कैसे-कैसे पत्थर तुम्हारे पास हैं।

व्यापारी का चेहरा चमक उठा। उसने एक पत्थर निकाला जो कई पहलुओं में कटा हुआ था और बहुत ही सुन्दर लग रहा था। उसके कटे हुए पहलुओं से रंग-विरंगी चमक निकल रही थी। दरबारियों ने विस्मय के साथ उस पत्थर की ओर देखा। व्यापारी ने कहा—'श्रीमान् की सेवा में यह रत्न मेरी भेंट है!'

श्रीमान् के चेहरे पर अबकी एक स्मित हास का उदय हुआ। उस मन्द मुस्कान में भी ऐसी गम्भीरता थी मानों रोज एक-से-एक रत्न इन्हें भेंट में मिलते हैं, मानों रत्न मिलना साधारणतया एक अच्छी बात है। उस रत्न को हथेली पर लेकर उलटते-पलटते शक्ति सिंह ने पूछा—'इसकी कीमत क्या होगी?'

व्यापारी ने कहा—'सरकार, यह छोटा-सा पत्थर तो मेरी ओर से आपको सलामी में दिया गया है। इसकी कीमत भला क्या होगी, मेरी हैसियत ही क्या है। भोपाल में इसका दाम दस हजार मिल रहा था, मैंने दिया नहीं।'

"हाँ-हाँ, सलामी की चीज का दाम मैं भला क्यों देने लगा। दाम वाली चीजें निकालो; जरा उन्हें भी देखूँ।"

व्यापारी ने अपनी पिटारी खोल दी। पत्थर पर पत्थर निकलने लगे। मोल-तोल होने लगा।···भला-भला, श्रीमान् के दरबार में इसका दाम बीस हजार ही मिलेगा? रावतपुर में इसकी कीमत तेईस हजार मिल रही थी।·· यह चीज लीजिये सरकार यह बस एक ही चीज है। सत्तर हजार ज्यादा दाम नहीं है। कोई आपको अस्सी हजार में भी ऐसी चीज ला दे तो मैं उसकी गुलामी लिख दूँ।·····

जब सौदा समाप्त हुआ, शक्ति सिंह तीन लाख बाईस हजार की

चीजें खरीद चुके थे। हुक्म हुआ—खजांची से मिलकर अपना हिसाब चुकता कर लो।

व्यापारी जैसे ही दरबार से निकला कि एक वयस्क पुरुष आकर वहाँ उपस्थित हुआ। गौरवर्ण, ललाट में चन्दन, शरीर पर रेशमी कुरता, सफेद धोती, वह कवि था। आते-ही-आते उसने कविता शुरू कर दी—"स्वर्ग ने पवन को सीमित किया, पवन ने जल-स्थल को बाँधा, धर्म ने मर्यादाओं को बाँधा, धर्म को संस्कृति ने सीमित किया। श्रीमान् शक्ति सिंह ने अपनी असीम शक्ति के एक ही कण से संस्कृति को भी अलंकृत कर दिया। जगदीश कव कहते हैं कि शक्ति सिंह धन्य हैं, क्योंकि संस्कृति की रक्षा का भार उन्हीं पर है।"

शक्ति सिंह अपनी प्रशंसा सुनकर मुसकिराये। हँसकर बोले—जगदीश कवि तो बहुत ही अच्छे कवि मालूम होते हैं। इन्हें पाँच रुपया और धोती-चादर मिलनी चाहिये।

× × ×

जो सज्जन मुझे यह किस्सा सुना रहे थे उन्होंने कहा—'यानी पत्थर के लिये तीन लाख बाईस हजार और कविता के लिये सिर्फ पाँच रुपये। भला ऐसा भी होना चाहिये? आपको जानना होगा कि साहित्य का सम्बन्ध संस्कृति से है।...'

मैंने कहा—'और पत्थरों का सम्बन्ध फावड़ा से क्यों? लेकिन आपके शक्ति सिंह मुझे विशेष दानी प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने कम-से-कम पाँच रुपये तो कवि को दिये ही। मैं एक ऐसे रईस के विषय में जानता हूँ जो कविता सुनते जाते थे और कहते जाते थे कि इस कविता के लिये सौ, इसके लिये पाँच सौ, इस सवैया के लिये हजार, इसके

लिये पाँच हजार। कवि महोदय कुप्पा हो गये। उसके बाद जब माँगा, तो रईस ने कहा—वाह जनाब, रुपया कैसा ? आपने मुझे बातों से खुश किया, मैंने भी आपको बातों से प्रसन्न कर दिया। हिसाब-किताब बराबर है—रुपयों का यहाँ सवाल ही नहीं उठता। जैसे रईस वैसे कवि।

उन्होंने कहा—हाँ, जैसे रईस वैसे ही कवि—आप ठीक कहते हैं। मगर आपको जानना होगा कि साहित्य का सम्बन्ध संस्कृति से है। लोगों ने संस्कृति को ऐसे ही हाथों में सौंप दिया है जो पत्थर की कीमत लगा सकते हैं; लेकिन संस्कृति की कीमत नहीं लगा सकते। साहित्य की धारा बदलनी ही पड़ेगी। जब तक संस्कृति शुद्ध नहीं होगी, कला का रूप नहीं निखरेगा।

उन्होंने कुछ और भी बातें बतलाईं। वे बातें भले ही पसन्द हों; लेकिन मुझे उनके कहने का ढंग पसंद नहीं आया।

राजाराम

राजाराम है, सो अगर उसे 'मास्टर टेलर' कह दो, तो वह बड़ा मुदित हो जाता है। यों वह पढ़ा-लिखा नहीं है; लेकिन सिलाई का काम वह अच्छा जानता है। उसकी स्त्री उसकी योग्यता पर जितना संदेह करती है उतना ही वह अपनी स्त्री की योग्यता के बारे में निःसंदिग्ध रहता है।

एक दिन सबेरे राजाराम ने उठकर देखा कि उसके दरवाजे की दीवार से सटकर एक आदमी खड़ा है। उसके बाएँ हाथ में

कोलतार की एक हाँड़ी लटक रही है और वह दाहिने हाथ से दीवार पर कुछ चित्रांकण-सा कर रहा है। राजाराम ने सोचा कि ये दाद-खाज और गर्मी-सुजाक के विज्ञापनवाले पहले इधर-उधर लिखते फिरते थे; अब इनका हौसला ऐसा बढ़ा कि ठीक उसके दरवाजे पर·····।

आगे बढ़कर बोला—अजी ओ बाबू साहब, जरा अपनी कोलतार की हाँड़ी लटका कर चलिये तो यहाँ से। देखूँ कि आपकी चाल कैसी होती है। यह किसी ऐरे-गैरे का मकान नहीं—समझ रखिये। यहाँ आप कुछ लिख नहीं सकते।

इसके जवाब में उस आदमी ने एक बार राजाराम की ओर क्रोधांध आँखों से देखा और बड़े विकट रूप से गरज उठा। राजाराम की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। उसका घर, उसकी दीवार, और ये उस घर-दीवार के अभिभावक कहाँ से फट पड़े। उसने डपटकर कहा—तुमने समझा क्या है; मैं लिखूँगा और जरूर लिखूँगा। देखता हूँ कि मुझे लिखने से कौन रोक सकता है। सरकारी काम में दस्तंदाजी?

सरकारी काम का नाम सुनकर और एक सौ सात डिग्री का रोष देखकर राजाराम ने सोचा कि हो-न-हो आप जरूर कोई दारोगाजी हैं। इस रोब और इस ठसक से दारोगा के सिवा कोई दूसरा बात नहीं कर सकता। ऐसा शंका हो सकती थी कि दारोगा के जैसा पोजीशनवाला आदमी किसी की दीवार पर अलकतरा लेकर लिखता क्यों फिरेगा? लेकिन आज-कल इस लड़ाई और इस महँगी के जमाने में जो न हो जाय वही थोड़ा है। अभी साल भी नहीं लगा कि बेईमान सेठ-साहूकारों ने चावल और गेहूँ को गायब कर दिया था। तमाम खोज जाओ,

मगर न कहीं चावल है और न कहीं गेहूँ है। उस समय सदर एस० डी० ओ० साहब अदालत छोड़कर आढ़त-आढ़त घूमते थे और चावल निकलबाते थे। उसके बाद मालूम हुआ कि जिसे जिन्स नहीं मिलता वह कचहरी में जाकर चावल और गेहूँ खरीद सकता है। दौड़ा-दौड़ा राजाराम वहाँ पहुँचा, तो देखता है कि दो डिपटी मैजिस्ट्रेट लोग डंडी-तराजू थामकर बैठे हैं और गेहूँ बेच रहे हैं। सरिश्तेदार ग्राहकों से पैसा वसूल करते हैं और पेशकार एक कागज पर लिख लेते हैं। दूसरी तरफ जाकर देखा तो एक सेकेंड क्लास का पावर रखनेवाले डिपटी साहब बोतल से नाप-नापकर किरासन तेल बेच रहे हैं। भीड़ वहाँ दही की तरह जम गई है। दारोगा और इंस्पेक्टर उस भीड़ को सँभाल रहे थे। उन्हीं दिनों सौ-सौ रुपए माहवार पर बहुत-से बी० ए० डिपटी के काम में बहाल हुए थे। उनमें राजाराम के पड़ोस का भी एक लड़का शामिल था। उससे पूछकर राजाराम ने मालूम किया था कि अभी वह किसी इजलास पर नहीं बैठता, केवल चना और खेसारी बेचता है। जब हाकिमों की यह हालत है, तो फिर अगर कोई दारोगाजी अलकतरा लेकर दीवार पर कुछ लिखते फिरते हों, तो अचंभे की कोई बात नहीं।

राजाराम डाँट सुनकर संकुचित हो गया और सामनेवाले आदमी को सलाम करके बोला—सरकार ने कहा नहीं कि आप कोई हाकिम हैं। पहले ही कह दिया होता, तो कोई बात नहीं थी। जब श्रीमान् की यही इच्छा है कि आप मेरी दीवार पर कुछ लिखें, तो शौक के साथ जितना चाहिए उतना लिख दीजिए।

उन्होंने कहा—मैं तो सिर्फ इस मकान का नंबर दूँगा और चला जाऊँगा।

राजाराम ने कहा—जब नंबर देने की बात है तो वह बेकार है। म्युनिसिपैलिटी ने तमाम मकानों में पहले से ही नंबर दे रखा है। उसीसे आपका काम भी चल जायगा।

न तो राजाराम को कोई सलाह देने की जरूरत थी और न उन्हें उस सलाह को सुनने की आवश्यकता थी। मगर लोगों में यह आदत है कि वे आपस में फालतू सलाह लिया और दिया करते हैं और सहानुभूति वगैरह संचित किया करते हैं। राजाराम की सलाह सुनकर उन्होंने कहा—मुझे तो इस मकान में अपना ही नंबर देना है। मैं राशनिंग में काम करता हूँ।

अब लीजिए; राशनिंग महकमे का नाम भी राजाराम ने कहीं नहीं सुना। सरकारी महकमे बहुत तरह के होते हैं, यह बात उसे मालूम थी। मवेशी अस्पताल होता है और वहाँ भी डाक्टर रहते हैं। एक सरकारी अफसर आए थे और पूछते चलते थे कि आपलोग कितना दूध खाते हैं। पता नहीं, उनका क्या महकमा था। इसी तरह एक दिन मेले में उसने देखा था, कोट-पतलून की दिव्य पोशाक पहने कुछ सरकारी लोग एक प्रकार का हल बेच रहे हैं। वे अपनी पतलून की जेब में हाथ घुसेड़कर क्षितिज की ओर देखते हुए पाइप पी रहे थे। यह ठाट-बाट देखकर किसानों की हिम्मत ही उनके पास जाने तक की नहीं थी। पूछने पर मालूम हुआ कि खेती-बारी में सहायता देने के लिए एक सरकारी महकमा है। ये क्षितिज की ओर देखकर पाइप पीनेवाले उसी महकमे के कर्मचारी हैं। उसी

मेले में उसने देखा था कि एक सरकारी महकमावाले करघा और कालीन बेच रहे हैं। पता नहीं, उनका कौन-सा महकमा था। अपने दोस्तों के साथ जाकर उसने मुर्गी पालने का एक सरकारी महकमा भी देखा था। इसलिए यह कहना कठिन है कि यह राशनिंग कैसा महकमा है। हाँ, पूछा तो जा सकता है; लेकिन पूछने पर ये हजरत कहने लगेंगे कि इतना बड़ा 'मास्टर टेलर' होकर राजाराम यह भी नहीं जानता! पूछने में हेठी थी। ···शायद यह महकमा दीवार पर लिखने के लिए होगा। कौन जाने!

मगर जानना भी जरूरी था। राजाराम ने अपनी जिज्ञासा को आड़े-तिरछे घुमाकर पूछा—आपके इस तरह दीवार पर लिखने का नतीजा कैसा होगा?

'इसका नतीजा बहुत ही अच्छा होगा!' उन्होंने उत्फुल्ल होकर कहा—मेरे लिखने का यह नतीजा होगा कि खाने-पीने की सारी चीजें बड़ी सहूलियत के साथ मिल जाया करेंगी। दूकान-दूकान दौड़ना नहीं पड़ेगा। आराम रहेगा, बेफिक्री रहेगी, किसी बात की तकलीफ नहीं होगी।

राजाराम ने सोचा, चलो बला टली। पानी-पानी होकर घिघियाने लगा—तो सरकार, जब ऐसी बात है, तो मेरी दीवार पर जरा बड़े-बड़े अक्षरों में लिखिएगा।

वे मुसकुरा दिए।

× × ×

राजाराम ने सोचा था कि अगर सरकार का यह राशनिंग महकमा चावल-दाल, आटा-घी के लिए है, तो बड़ा अच्छा है।

सब्जी और सालन का सवाल भी हल हो जायगा। कपड़ों में स्टैंडर्ड कपड़ा मिल जाता है। अब पुराने दिन आने में कोई कसर नहीं है।

लेकिन आधी रात के समय उसकी स्त्री ने फुसफुसाकर कुछ ऐसा कहा कि राजाराम के रोंगटे खड़े हो गए। बात बड़े असाधारण ढंग से कही गई थी। उसकी स्त्री ने कहा था—सुनते हो जी; सरकार की तरफ से आजकल चूल्हों की गिनती हो रही है।

राजाराम ने मर्दुमशुमारी सुनी थी; लेकिन यह चूल्हाशुमारी उसकी समझ में नहीं आई। सच-झूठ परखने के लिए पूछा—गंगा कसम?

गंगा कसम; जवानी कसम; तुम्हारी कसम!—उसकी स्त्री ने कहा। सरकार सचमुच चूल्हों को गिन रही है। उसके बाद एक दिन एकाएक कह देगी कि कोई चूल्हा मत जलाओ। लो, तब क्या खाएँगे; कैसे रहेंगे; कैसे जीएँगे।

सचमुच यह सरकारी रहस्य उसकी समझ में नहीं आया। ऐसा हो जाय, तो क्या ताज्जुब है! एक बार वह एक सभा में गया था। वहाँ जो आदमी लेक्चर दे रहे थे, उन्होंने जापानी बदमाशों के बारे में बहुत-कुछ समझाया। उसके बाद इस बात पर बहुत जोर दिया कि अब हमें भी हिम्मत के साथ कमर कसकर जापानियों से भिड़ जाना है। भाइयो, जूझ पड़ो जापानियों से; यह जनता की लड़ाई है। जनता का मोर्चा बाँधो।.....

मगर राजाराम जापानियों से जूझने के लिए कैसे क्या करे? उसके पास हथियार नहीं जो वह रूस और चीन (जिसका उन्होंने उदाहरण दिया था) के लोगों के समान बदमाशी से भिड़ सके। वह तो दर्जी का काम करता है और समझता है कि अंगुश्ताना और सूई

लेकर चाहे जितना भी युद्ध करो, जापानियों पर इसका कोई खास जोरदार असर पड़ना कठिन है। हाँ, तब भाषणदाता की एक बात उसे लग गई। उन्होंने कहा था, ये युद्ध के दिन हैं, लड़ाई के बादल मँड़रा रहे हैं, अतएव अपने खाने-पीने की चीजें जुटाकर रख लेनी चाहिए।

राजाराम को यह बात पसंद आ गई। दूसरे दिन अपनी कमाई के सारे पैसों को निकालकर बारह मन चावल, तीन मन दाल आदि खरीदकर ले आया। उसकी स्त्री बिदककर बोली—ऐसा तुमसे किसने कहा ?

राजाराम ने डटकर कहा—तुम घर में रहनेवाली ये नाजुक बातें क्या जानने गई ? 'नेशनल वार फ्रंट' वालों का लेक्चर सुनो, तो कुछ समझ में आवे।

उसकी औरत ने कहा—तमाम पैसे तो तुमने इसीमें बिगाड़ डाले। अब अगर कोई बीमार पड़ा, तो दवा लेकर नेशनल फ्रंटवाले थोड़े ही आएँगे।

यह बात तो आई-गई हो गई; मगर उसके चार दिन बाद ही पुलिस वालों ने उनके मकान को घेर लिया। तलाशी में चावल निकला बारह मन। लीजिए, राजाराम पर अतिरिक्त गल्ला जुटाने का मामला चलने की तैयारी होने लगी। जैसे-तैसे छूटा। इसके लिए उसे बहुत आँसू बहाने पड़े थे। एक आदमी का मुफ्त 'ओवरकोट' भी सी देना पड़ा था। बड़ी मुश्किल से जान बची। तबसे वह बहुत घबराता था। हाँ, जो सरकार का हुक्म है उसे तो पालना ही पड़ेगा।

·····तो इस चूल्हाशुमारी के मामले में क्या किया जाय ?

उसकी स्त्री ने बड़ी गंभीरता के साथ कहा—मैं तो ऐसा कहती हूँ, कि सीधे यही लिखवाओ कि इस घर में चूल्हा जलता ही नहीं।

एं ? राजाराम ने शंका की—और पूछेंगे कि क्या खाते हो, तब ?

स्त्री ने निःशंक होकर कहा—कह देना, सत्तू खाते हैं ! अगर वे नहीं मानें तब ?

तब भी कहना कि हमारे यहाँ चूल्हा कभी जलता ही नहीं।

विचार तो राजाराम को अच्छा मालूम हुआ; लेकिन सरकारी बात थी इसलिए डर लगता था। कहीं उसने कह दिया कि चूल्हा नहीं जलता, और उधर उसकी स्त्री किसीसे कह बैठी कि चूल्हा तो चढ़ता है; फिर, नालिश हो जाएगी, वारंट निकल सकता है। उसने स्त्री को भाँपने की नीयत से पूछा—और कहीं तुम कह दो कि चूल्हा जलता है, तब ?

स्त्री बोली—आग लगे; भला मैं क्यों कहने जाऊँ ?

राजाराम ने कहा—देखा, तब विचार लो, मर्द की बात एक होती है।

स्त्री ने कहा—मर्द तो नहीं, मैं औरत हूँ; लेकिन एक ही बात कहती हूँ।

कहीं फिर धोखा न दे बैठना। आजकल गोयंदा लोगों की कमी नहीं है। उस दिन वह चूरनवाला कहाँ से चूरन बेचने के लिए दो पैसे सेर कागज लाया और गिरफ्तार हो गया। पता नहीं, उसमें क्या छपा था। चूरनवाला कितना भी कहे कि मैं पढ़ना-लिखना कुछ भी नहीं जानता; लेकिन उसकी सुनता कौन है ? ···सो भई, मामला नाज़ुक है; इसपर बहुत देर तक विचार करना पड़ेगा। अपने यहाँ

चूल्हा चढ़ता है और सरकार की बही में लिखवा देना है कि चूल्हा कभी चढ़ता ही नहीं। इसपर खूब सोच लो।

स्त्री ने कहा—सोच लिया है। अब सोचना नहीं है।

तो बात तय हो गई है ?

बात तय है !

फिर हटना नहीं होगा ?

मैं भला किसीसे क्यों कहने लगी कि मेरे यहाँ चूल्हा चढ़ता है ?

इस दृढ़ उत्तर से राजाराम ने समझ लिया कि बात पक्की है। अब यही लिखवाना फर्ज है कि अपने यहाँ चूल्हा है ही नहीं।

× × ×

मगर जब राशनिंग चालू हुआ, तो इसका नतीजा बिल्कुल उलटा निकला। औरों को 'कंट्रोल' रेट पर बराबर चावल मिल जाया करता था और राजाराम मुँह बाकर देखा करता था। वह अपनी पत्नी के ऊपर इस तरह गुस्सा होता था कि तमाम पड़ोसियों की भीड़ लग जाती थी। उसकी स्त्री सिसकती थी और कहती थी—आग लगे मेरे मुँह में ; जल जाय मेरी जीभ !

अब राजाराम का विश्वास अपनी स्त्री पर से उठ गया। आज-कल वह उसकी सलाह मानने से सरासर इनकार कर देता है।

मनुष्य और पशु

अभी हाल में आदमी ने पशुओं के ऊपर एक भारी विजय प्राप्त की है। पहले इक्के, ताँगे और फिटिन की सवारी थी। उसे घोड़े खींचते

थे। फिर रिक्शा का प्रचलन हुआ, इसे आदमी खींचते हैं। लगातार कई वर्षों तक आदमी और घोड़ों में एक भीषण व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता चलती रही। उसके बाद आदमी ने घोड़ों को परास्त कर दिया। अब तमाम रिक्शा ही नजर आते हैं। घोड़ेवाली गाड़ियाँ बहुत विलुप्त हो चुकी हैं; कुछ जो बची हैं सो शीघ्र ही विलुप्त होने को प्रस्तुत हैं।

घोड़े की अपेक्षा आदमी अच्छा होता है। दुलत्तियों का खौफ इनसे नहीं रहता। घोड़े तो कानून की जरा भी परवा न करके सड़क पर जहाँ-तहाँ लीद कर देते हैं, आदमी के द्वारा ऐसी हरकत नहीं होती। ये कानून की पाबन्दी मानते हैं। इसके अलावा जिस मुसाफिर को ये अपनी गाड़ी पर चढ़ाते हैं उससे दुख-सुख की बातें भी किया करते हैं।

एक रिक्शावाला मेरी फुलवारी के घर में रहता है। रोज आधी रात को वह टिमटिमाती हुई लालटेन (जिससे मिट्टी के रंग की लाल-सी रोशनी निकलती रहती है) लेकर फुलवारी में घुसता है। मेरे माली से उसकी रिश्तेमन्दी है। रोज रात को वह वहीं सोता है। उसे मैं जानता हूँ। नाम है उसका रामू। उस रामू को मैंने अक्सर फुलवारी में आते देखा है; जाते किसी दिन भी नहीं देखा। तड़के उठकर कब वह चल देता है सो मुझे मालूम नहीं। तब से वह आधी रात तक रिक्शे में जुता रहता है। किसान के बैलों को हल लेकर कभी-कभी ही काम करना पड़ता है; लेकिन रामू को सब दिन काम करना पड़ता है। बारहो मास, तीसो दिन। रामू है और उसका रिक्शा है।

सो रिक्शा भी उसका नहीं है। रिक्शा का वह भाड़ा देता है।

रिक्शा किसी मध्यवर्गीय विधवा का है। वह कोई काम नहीं कर सकती। उसीने पाँच-सात रिक्शे खरीद लिये हैं। आठ आने रोज के हिसाब से हरएक रिक्शे का भाड़ा मिल जाता है। रामू भी उसी विधवा का रिक्शा खींचता है।

मैंने रामू के रिक्शे पर सवारी भी की है। भीड़ वाली सड़कों पर भी वह आँका-बाँका होकर इस तरह तेजी से दौड़ता है कि देख कर आश्चर्य होता है। मोटर से, बस से, कभी-कभी ऐसा मालूम हुआ कि टक्कर लग जायगी, 'अब लगी अब लगी', कि रामू बाल-बाल बच कर निकल गया है। पहले लोग इक्कागाड़ी के घोड़े के गले में घुँघरू बाँधते थे। रामू भी घुँघरू रखता है; घुँघरू रखने का कानून है। लेकिन वह इतना करता है कि घुँघरू का हार बनाकर गले में नहीं बाँधता। सिर्फ एक ही घुँघरू वह अपने दाहिने हाथ में रखता है और चलते समय अविराम गति से रिक्शे के बम्पर से घुँघरू टकराता रहता है। ठक-ठक, ठक-ठक, एक सधा हुआ गत-सा बराबर निकलता रहता है। रिक्शे पर सवारी करने वालों को यह गत कंठस्थ हो जाता है। खुद रामू को भी इस गत के अस्तित्व की याद नहीं रहती। ऐसा गत बजाते रहना उसके लिये अनिवार्य है—ठक-ठक ठक-ठक—मधुर-सी एक आवाज। तब राही जान लेते हैं कि पीछे से रिक्शा आ रहा है। वे हट जाते हैं, राह दे देते हैं, रिक्शा आगे निकल जाता है। रामू अच्छा आदमी है। जब मैंने उसे भाड़े के पैसे दिये हैं तब उन्हें लेते समय उसे कुछ संकोच हुआ है और बरबस हँस कर उसने अपना संकोच हँसी में ढक दिया है। वह मुझे पहचानता है। मुझ पर कुछ अहसान-सा भी करना चाहता है, मगर ··खैर··

अब मेरे एक मित्र हैं सो लालपुर में रहते हैं। उस दिन उनके यहाँ रामू के रिक्शे पर ही पहुँचा। देखता हूँ कि दरवाजा बन्द है और वहाँ कुर्सी पर एक पुर्जे पर चंद पंक्तियाँ मेरे नाम लिखी हैं कि तुम आओ, तो जरा बैठ जाओ, कुर्सी रखी है। काम जरूरी था। अगर कुर्सी नहीं भी रहती तब भी वहाँ रुकना ही पड़ता। मैं कुर्सी पर बैठ गया और रामू भी वहीं दीवार से सटकर जमीन पर बैठ गया। वक्त काटने और रामू को जानने का यह अवसर मुफ्त में मिल गया था। परिचय को घनिष्ठ करने के अभिप्राय से मैंने पूछा—आजकल कैसा कमाते हो रामू ?

'आजकल' शब्द से मेरा खास मतलब था। उस समय हाल-हाल लड़ाई शुरू हुई थी। लोभी-लुटेरों ने हरएक चीज का दाम बढ़ाना शुरू किया था। प्रत्येक चीज पर कंट्रोल भी उसी समय लागू हुआ था। यह नवम्बर १९३९ की बात है।

रामू ने कहा—कमा लेता हूँ, बाबू साहब, सवा-डेढ़ का रोजगार रोज हो जाता है।

'तुम्हारा घर कहाँ है ?'

'यहाँ से सात कोस पर एक गाँव है, मुड़या।'

'बाल-बच्चे ?'

'दो लड़के हैं, एक लड़की है।'

'घर वाली ?'

'सो भी है। आजकल बीमार है, बाबू जी !'

उसने एक लम्बी साँस ली।

घोड़े दौड़ते हैं, हाँफते हैं, लेकिन घर वाली के विरह से कातर

होकर ऐसी व्यथा-भरी लम्बी साँस नहीं लिया करते। अपनी घर वाली की बीमारी की उन्हें सुध नहीं होती और वे ऐसे कातर नहीं होते।

मैंने रामू को सोचने दिया। उसकी घरवाली की स्मृति में कोई बाधा नहीं डाली। मैं खुद सोचने लगा कि रामू का घोड़ा होना ही ज्यादा अच्छा था। तब वह इन प्रपंचों में नहीं पड़ता। सिर्फ खाने और दौड़ने के पीछे मस्त रहता। आदमी होकर यह अपने बाल-बच्चों के बारे में चिन्ता करता है, स्त्री बीमार पड़ती है तो सोचता है। इस रामू से तो घोड़े ही अच्छे। रामू के तन पर अगर मुसाफिरों का बोझ रहता है तो मन पर स्त्री, बालक और घर-दरवाजे का भार रहता है। यह बोझ भी तो कम नहीं। यह तुलना कठिन है कि रामू और किसी घोड़े में कितना वैषम्य है। रामू ने व्यापारिक क्षेत्र में घोड़े को परास्त कर दिया है; लेकिन खुद घोड़ा नहीं हो पाया।

× × ×

फिर रामू को नहीं देखा। उसकी मुझे कोई याद भी नहीं थी; लेकिन जब बहुत दिनों के बाद उसे देखा तो याद आया कि बहुत दिनों से मैंने रामू को नहीं देखा था।

रिक्शास्टैंड पर पहुँचते ही रामू ने मुझे सलाम किया। आदमी यह सलाम नाम की चीज खूब पसन्द करता है। रामू की जगह अगर कोई घोड़ा होता, बैल होता या बारहसिंगा ही होता तो कदापि सलाम नहीं करता। कुत्तों में कुछ-कुछ ऐसी आदत है। वे सलाम नहीं करते, दुम हिलाते हैं। रामू सलाम करता है।

लेकिन रामू को हो क्या गया है? शरीर में हड्डियाँ छोड़कर

स्वास्थ्य निकल गया है। आँखें गड्ढे में धँस गई हैं। चेहरा कितना करुण मालूम होता है। अगर कोई बीमार बैल को गाड़ी में जोते, तो हम उसे बुरा-भला कहेंगे। उसे हृदयहीन पशु साबित करने में जरा भी संकोच नहीं करेंगे। लेकिन रामू बीमार बैल नहीं जोतता। वह बीमार रहकर खुद अपने को गाड़ी में जोत लेता है। इसलिए हम नैतिक या क़ानूनी आपत्ति नहीं करते।

मैं रिक्शा पर बैठ गया।

'कहाँ चलूँ, बाबूजी ?'

'घर !'

और रामू घर की ओर दौड़ पड़ा। लेकिन उससे दौड़ा नहीं जाता। धीरे-धीरे दौड़ता है और प्यासे कुत्ते की तरह हाँफता है। रामू बहुत बीमार रहा होगा। उसके बाद उसकी आवश्यकताओं ने उसे रिक्शे में जोत दिया। कोई घोड़ा या बैल ऐसी अवस्था में स्वेच्छा-पूर्वक गाड़ी में जुतना मंजूर नहीं करता। मगर रामू घोड़े की अपेक्षा ज्यादा समझदार है। कैसा हाँफ रहा है। छाती की हड्डियाँ स्प्रिंग की तरह हिल रही हैं।

जहाँ कोई बाधा न हो, वहाँ हम मध्यवर्गीयों की सहानुभूति बड़े जोर से उमड़ पड़ती है। मुझे भी जल्दी पहुँचने की कोई जल्दी नहीं थी। मैंने रोक कर कहा—'तेज चलने की जरूरत नहीं है रामू।'

रामू धीरे-धीरे चलने लगा। तब भी उसे रिक्शे के खींचने में जोर लगाना पड़ता था, तब भी वह हाँफ रहा था।

मैंने पूछा—'बीमार थे क्या ?'

'हाँ सरकार !' उसने हाँफते-हाँफते जवाब दिया—'बहुत बीमार था। बचने की उम्मीद नहीं थी। छः महीने की बीमारी भोगकर अभी अभी तो उठा हूँ।'

और अभी ही रिक्शे में जुत गया। जरा स्वस्थ तो हो लेने देता। यह तो ऐसा मरियल हो गया है कि कोई भी इसके रिक्शे पर बैठना मंजूर नहीं करेगा। रिक्शे पर चढ़ते समय आदमी रिक्शेवाले के स्वास्थ्य को भी देखता है। लोग इसकी सूरत देखते ही मुँह सिकोड़ लेते होंगे।

पूछा—'आजकल कैसा कमाते हो ?'

'क्या कमाऊँगा, सरकार ! लोग मेरे रिक्शे पर चढ़ते ही नहीं। कहते हैं, आराम करो !'

मैंने पूछा—'आजकल कितने दिनों से रिक्शा खींच रहे हो ?'

'पन्द्रह-बीस दिनों से !'

सो रामू कष्ट में है। शरीर और मन कुछ भी ठीक नहीं और हमारा पौने दो मन का शरीर टाँगे जा रहा है। अगर मैं तीन और चार मन का भी होता, तब भी रामू उज्र नहीं कर सकता था। उसे ले जाना पड़ता ही।

घर पहुँच कर मैंने उसे पैसे दिये और कहा—देखो, कोई जरूरत आ जाय, तो मुझे खबर देना। शायद तुम्हारी कुछ सहायता कर सकूँगा !'

रामू ने कृतज्ञता से हँस दिया।

और उसी रात को उसने खबर भी भेज दी।

ग्यारह बजे होंगे। दिन-भर का थका-माँदा, एक उपन्यास पढ़-कर तबीयत बहला रहा था। एक बुड्ढी विलासिनी किस प्रकार उठते हुए नौजवानों को फँसाती थी। लेखक बार-बार हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहा था। ऐसा स्वाभाविक है, ऐसा मनोविज्ञान से सम्मत है। बुढ़िया का दोष नहीं। ···कि माली ने आकर समाचार दिया—रिक्शावाला रामू मेरे यहाँ पड़ा है। उसे खून की कै हो रही है। तीन कै हो चुकी।

सुनकर मैं सर्द हो उठा।

हमारे एक मित्र डाक्टर हैं। उन्हें बुलाया। रामू की भली भाँति परीक्षा करने के बाद बोले—सेकेंड स्टेज में है!

पूछा—'अब क्या उपाय हो सकता है?'

'सेनिटोरियम! परफेक्ट रेस्ट! और कोई उपाय नहीं है।'

मगर घोड़े का काम करनेवाला यह रामू किसी सेनिटोरियम में कैसे प्रवेश पा सकता है। इसने घोड़े को परास्त किया था और उसकी कमाई खाता था। इसने पूँजीपतियों को परास्त नहीं किया था कि उन लोगों के समान ही सेनिटोरियम में प्रवेश पा सकता, वहाँ का खर्च उठा सकता।

डाक्टर ने उसे सलाह दी—तुम घर चले जाओगे! और, दूसरे दिन सबेरे उठकर उसने अपने घर की राह ली। यहाँ से सात कोस पर उसका घर था। जो सबको गाड़ी पर बिठाता था, आज उसके लिये कोई गाड़ी नहीं थी!

वसीयतनामा

आजकल सवा सेर का चावल बिकता है।

पहले सवा रुपये रीम कागज बिकता था और सवा बारह सेर का चावल मिलता था। तब भी हिन्दी के लेखक गरीब समझे जाते थे। अब प्रकाशकों को कागज नहीं मिलता और लेखकों को सवा सेर का चावल खरीदना पड़ता है।

और सेठजी हैं, वे सवा सेर का चावल बेचते हैं। मुझे चाहे जितनी मुसीबत होती हो, उन्हें मुनाफा होता है। उनकी इमारत आसमान की ओर बढ़ती जाती है, मेरी झोपड़ी जमीन चूमने के लिए तैयार है। आज इस जमाने में भी वे, 'जापानी टाइल्स' और सङ्गमर्मर की पटिया खोज रहे हैं, और उन्हें मिलती है। मैं पन्द्रह-बीस कर्ज खोजता हूँ, और मुझे वह भी नहीं मिलता। सेठजी बॉक्साइट और ताँबे की खान खरीदनेवाले हैं, मैं अपनी थोड़ी-सी रैयती जमीन बेचनेवाला हूँ। ..... मुझमें और सेठजी में खासा अन्तर है—वे व्यापारी, मैं हिन्दी का लेखक।

हम लोग एक ही मुहल्ले में रहते हैं। अड़ोस-पड़ोस में घर है। सेठजी हमारे मिलनसार आदमी हैं। खूब मिलते हैं, खूब बोलते हैं। हँसते हैं तो तख्तपोश हिलने लगता है। उनका नाम है श्रीडूँगरमलजी बियाणी। माहेश्वरी मारवाड़ी हैं। जोड़-जोड़कर इनके वंशवालों ने कपट की कमाई की थी; ये उसका उपभोग कर रहे हैं। कारबार खूब बढ़ाया है। किराना, कपड़ा, स्टेशनरी, जमींदारी, ब्याज, बट्टा, शेयर; और अब खनिजपदार्थों में भी हाथ डालनेवाले हैं, सो कारबार को

न्होंने बढ़ाया है, बनाया नहीं। बनाने में इनके बाप का हाथ था। वे ीमार हैं। डूँगरमल उदास रहते हैं।

वे डूँगरमल पढ़े-गुने आदमी हैं। ब्याज जोड़ने के अलावा कुछ ात्र और पत्रिकाओं से भी दिलचस्पी रखते हैं। उससे भी इनका लाभ ोता है। कहाँ तूफान आया, कहाँ अकाल पड़ा, किधर महामारी फैली है, सारा का सारा पता मिल जाता है। अन्दाज मिल जाता है कि अमुक चीज का भाव चढ़नेवाला है, सो उसका स्टॉक कर लो। और फिर गवर्नमेंट की नीति—यही नीति तो लोभ उठाने की चीज है। उस दिन काँग्रेस की मिनिस्टरी थी तो गान्धी-टोपी पहनते थे। अब लड़ाई के दिन हैं तो मिलिटरी कण्ट्रैक्ट के लिए दौड़ रहे हैं। डूँगरमल समझदार आदमी हैं। लेखक क्या चीज है सो जानते हैं। मेरा सम्मान करते हैं।

सम्मान और सरस बातों का मतलब यह नहीं कि वे सवा की जगह मुझे डेढ़ सेर का चावल दे दें। ऐसा वे नहीं कर सकते। कोई भी पूँजीपति ऐसा नहीं कर सकता। ऐसा नियम नहीं। सरकारी नौकरों के चावल-दाल की चिन्ता सरकार करती है; लेकिन जनता की सेवा करनेवालों की चिन्ता के लिए कोई जिम्मेदार नहीं है। लेकिन फिर भी रक्तबीज की भाँति लेखकों की संख्या बढ़ रही है, फिर भी हमारा साहित्य हमारी संस्कृति का निर्माण कर रहा है। लोग साहित्य से प्रभावित होते जाते हैं, और होते जायँगे। यही कारण है कि सेठ डूँगरमलजी बियाणी हमारी इज्जत कर देते हैं। तो भी मुझे सुख नहीं मिलता, तो भी मेरे मन में उनके प्रति कटुता उत्पन्न होती है। वे मुझसे बातचीत में अच्छे हैं, मैं उनसे बातचीत में अच्छा हूँ। बस यही, इतना ही उनका-मेरा नाता है।

लेकिन पारस्परिक बातचीत का नाम ही जीवन नहीं। जीवन का सत तो पेट में भोजन के द्वारा तैयार होता है। बातचीत से बीरबल का पेट भले ही भर गया हो, औरों का नहीं भरता। सेठजी के पास अपरम्पार सम्पत्ति है, वे सुखी रहते हैं। मेरे पास कुछ भी नहीं, मैं उदास रहता हूँ। बातचीत से मेरा पेट नहीं भरता। मगर तब भी व्यवहार का एक सिद्धान्त है। बीमार आदमी को देखना बुरा नहीं। डूँगरमल के बाप बीमार हैं। उन्हें देखने चला गया।

सेठजी का घर आलीशान है। ओसारा सङ्गमर्मर का है। दीवारों पर मोज़ेक की गई है। आँगन में भी मोज़ेक है, रङ्गीन। लेकिन नाली से बदबू कैसी उठ रही है? आँगन की गन्दगी में दुमदार कीड़े लोट-पोट कर रहे हैं। उसी तरह, जिस तरह सेठजी और इनके बाप महोगनी के पलँग के मखमली गद्दों पर लोट-पोट किया करते हैं। इन गन्दे कीड़ों और सेठजी में अगर कोई अन्तर है तो यही है कि सेठजी समझ से काम लेते हैं, नाली के कीड़े समझ से काम नहीं लेते। सो सेठजी अपनी समझ के द्वारा सिर्फ अपनी पूँजी बढ़ाने का काम लेते हैं; लेकिन रुपयों का उपयोग जो सेठजी करते हैं वही ये नाली के कीड़े किया करेंगे। मैंने नाक पर रूमाल रख लिया।

और वही, जो पलँग पर मरणासन्न पड़े हैं, वे ही सेठजी के पिताजी हैं। मैं जीवन के अन्तिम-काल में उन्हें देख रहा हूँ। बस आज-कल के मेहमान हैं। चेहरे पर मृत्यु की यंत्रणा खेल रही है। आँखों में अपार वेदना, दाँत बाहर निकल आये हैं। देखने में भयावने मालूम होते हैं। इतने बड़े सेठ, और ऐसे भयावने? क्या पैसा आदमी के चेहरे को खूबसूरत नहीं रख सकता? आई हुई मृत्यु क्या पैसों के द्वारा नहीं लौट

सकती ? नहीं-नहीं, मृत्यु लौटती नहीं । सेठजी अपनी वसीयत में दान लिखवा रहे हैं । ये वकील साहब हैं, श्री नकुलचन्द्र कुण्डू । ये लिख रहे हैं ।···

सेठजी बड़े कष्ट में हैं । मुश्किल से मुँह खुलता है, मुश्किल से आवाज निकलती है और मुश्किल से जीभ उलटती है। सेठजी कह रहे हैं—आज-कल जीव-हत्या बहुत होती है, वकील बाबू, इसलिए आप ऐसा लिखिये कि हमारे सत्तर हजार रुपयों से जीव-पालन किया जाय। पशु रखे जायँ। उन्हें खाना-पीना, दवा-दारू, सब कुछ दिया जाय। लिखिये ।

हाँ, ठीक है ; सेठजी को पशुओं की चिन्ता बहुत है ; लेकिन भोजन के बिना आज मनुष्य भी पशु की भाँति पट-पट मर रहे हैं, सो इन्हें इसकी चिन्ता नहीं । आदमी के चलते आदमी कितना कष्ट पा रहा है, इसके निवारण के लिए सेठजी को कोई फिक्र नहीं। मगर मैं जानता हूँ कि परसों सेठजी का यही दान अखबारों में छपेगा और धूम मच जायगी, उस समय कोई भी इसका खयाल नहीं करेगा कि पशुओं की चिन्ता करनेवाला व्यक्ति पशुओं से अधिक बुद्धिमान नहीं था ।

वकील साहब ने सेठजी का आदेश नोट कर लिया ।

सेठजी ने कहा—आप ऐसा लिखिए कि एक-एक लाख रुपया खर्च करके हमारे मरने के बाद एक धर्मशाला और एक मन्दिर बनाया जाय ।

मन्दिर और धर्मशाला ! सुनते-सुनते कान पक गये। इसी शहर में पचासों मन्दिर और दर्जनों धर्मशालाएँ हैं ; उन्हीं में एक-एक की गिनती बढ़ गई। यह संकृति, यह समाज, यह

राष्ट्र का नव-निर्माण···मगर सेठजी तो मरते दम तक इन चीजों को नहीं जान पाये। बस समाज के धनवान् बने रहे। पशु की भाँति जीते रहे और आज लावारिस कुत्ते की तरह मर रहे हैं।

वकील साहब ने कहा—नोट कर लिया। और भी कोई आदेश ?

हमारे मित्र डूँगरमलजी बियाणी का चेहरा गम्भीर हो उठा था। वे सोच रहे थे कि इस समय यहाँ संसार का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है। धन्य हैं उनके दानवीर पिता ! उनका चेहरा गम्भीरता से भरा था और उल्लास से चमक रहा था।

सेठजी—बस एक बात और। जब मैं मर जाऊँ, तो उसके बाद सात महीने तक दिन और रात अखण्ड सङ्कीर्तन चलता रहे।

वकील साहब ने पूछा—और ?

और ? और माने, हाँ। इसके लिए सात हजार एक सौ एक रुपया दिया जायगा।

वकील साहब ने लिखकर कहा—नोट कर लिया।

सेठजी ने कहा—अभी और पूरा नोट कीजिए। लिखिये कि सङ्कीर्तन में कहा जायगा 'हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे !' इसको पूरा-पूरा लिख लीजिए।

वकील साहब लिखने लगे।

डूँगरमल ने गर्व से मेरी ओर देखा। मानों मेरी आँखों में कह रहे हों, देखते हो, मेरे पिता कितने महत्त्वपूर्ण हैं, कैसे दानी हैं। और मैं सोच रहा था कि धन ऐसे ही लोगों के पास रहता है जिनके पास उसका कोई उपयोग नहीं। उपयोग ही होता, तो चञ्चला टिकती कैसे ?

वसीयतनामा पर दस्तखत बनाकर बाहर निकल आया। डूँगरमल

जी साथ थे। मैंने कहा--आपके पिता ने दान तो काफी दिया है; लेकिन उनका दान का ढङ्ग मुझे पसन्द नहीं आया।

डूँगरमल ने कहा--भाई, पुराने खयालात होते ही हैं!

मैंने पूछा--तो क्या आप दान का रुपया इसी प्रकार खर्च नहीं करेंगे?

"वाह! करूँगा क्यों नहीं?"--डूँगरमल आश्चर्य में भर उठे।

और यदि मैं कहूँ कि आप मेरे कहे अनुसार पचास रुपया भी काम में खर्च करें तो आप नहीं करेंगे--क्यों?

डूँगरमलजी हँसने लगे। भला ऐसी भी कोई बात कहता है, अप्रासंगिक।

× × ×

उस रात रातभर मुझे नींद नहीं आई। रातभर सेठजी के यहाँ औरतें रोती रहीं। उनका कोई भी पुण्य उन्हें धरती पर नहीं रोक सका। सेठजी स्वर्ग चले गये थे। उनके घर में कुहराम मचा हुआ था।

रातभर मुझे नींद नहीं आई। मैं सोचता रहा क्या सेठजी सचमुच स्वर्ग चले गये? अगर सारा जीवन जैसा-तैसा बिताकर अन्त में उटपटाँग दान करके आदमी स्वर्ग में जा सकता है, तो वैसा स्वर्ग मेरे लिए बम्पुलिस से ज्यादा महत्त्व नहीं रखता। वैसी ही गन्दी आत्माएं तो वहाँ विश्राम पाती होंगी जो साहित्य, संस्कृति, राष्ट्रीयता से हीन हैं। मैं तो कदापि ऐसे स्वर्ग में नहीं जा सकता।

—

आधा हिस्सा

यदि आप मेरी सलाह मानें तो मैं आपको कहूँगा कि अखबारों पर कदापि विश्वास न करें। अभी की बात है। उस दिन एक अखबार ने मेरे विषय में एक अद्‌भुत समाचार छाप दिया। यद्यपि वह समाचार मेरे विषय में था तथापि मुझे स्वयं भी अपनी वह खबर मालूम नहीं थी। उसमें छपा हुआ था—"हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक बच्चू बाबू ने आजकल लेखनी को ताक पर रख दिया है और हाथ में जंतर-मंतर लेकर वैज्ञानिक आविष्कार के पीछे पड़ गये हैं। बच्चू बाबू को न खाने की सुध है न पीने का खयाल है। आविष्कार के पीछे भूत की तरह पड़ गये हैं। अब आशा है कि आप सफलता के शिखर पर शीघ्र ही सवार हो जायँगे·····"

कहिये,जनाब, हुआ विश्वास ? आविष्कार से मुझसे उतना ही सम्बन्ध है जितना अमेरिकावालों का हिन्दुस्तान से सरोकार है। मैं यह मान लेने के लिये तैयार हूँ कि कबीरदास भूगर्भवेत्ता होंगे और तुलसीदास रासायनिक होंगे। लेकिन यह कदापि सम्भव नहीं था कि साढ़े पाँच फीट का मैं श्री बच्चू बाबू आविष्कार करना जानता होऊँ अथवा आविष्कार से मेरी कोई दिलचस्पी हो, किंवा मैं विज्ञान का क ख ग घ भी जानता होऊँ।

मजा यह कि उस पत्र के सम्पादक जी मेरे मित्र थे। जरा उन्हें पूछ तो लेना था । सम्पादक न हुए, परमात्मा हो गये। जो तबीयत आई, छाप दिया। आज यह छापा है, कल गये छाप देंगे कि

श्री बच्चू बाबू ने एक अमूल्य आविष्कार करके भारतवर्ष का मस्तक ऊँचा कर दिया।

झल्लाया-बौखलाया, सम्पादक जी से मिला। आदमी तो बड़े भले हैं, लेकिन न मालूम क्यों मेरी बात सुनकर नाराज हो गये। बोले—मैं अपने संवाददाताजी से पैसे-पैसे के हिसाब से खबर खरीदता हूँ। वे एक खबर लावें तो एक पैसे और पाँच खबर लावें तो पाँच पैसे। मतलब समझ गये ? मतलब मैं खबरों के लिये प्रचुर पुरस्कार प्रदान करता हूँ और पुरस्कार-प्रदत्त खबर कभी गलत नहीं हो सकती।

मैंने कहा—तो क्या आपने मुझे एडिसन या आइन्स्टाइन समझ लिया है ? सर ओलिवर लौज भी होता तो भूतों का आविष्कार कर लेता। बचपन से हमारी आपकी दोस्ती है, आप इतना भी नहीं जानते ?

सम्पादकजी को भी विश्वास नहीं। सिर धुन रहे हैं और कह रहे हैं—नहीं-नहीं, कदापि नहीं, मेरा संवाददाता झूठ समाचार नहीं ला सकता ! वह हिन्दू-सभा, मुस्लिम-लीग, धक्कड़ पार्टी, जहाँ भी घुसता है कोई समाचार लेकर ही निकलता है। आपका समाचार भी सत्य होगा। सम्भव है कि आप गुप्त रूप से आविष्कार करते होंगे। सोना बनाते होंगे। अथवा टिन को चाँदी में परिणत कर देते होंगे। कोयले में हीरा होता है। शायद आप उसीका अनुसन्धान कर रहे होंगे। समाचार झूठ नहीं हो सकता।

अब ऐसे आदमी से कितना माथा लड़ाऊँ। ये तो संवाददाता को छोड़ और किसी की सुनने को तैयार ही नहीं। बोला—लेकिन इस समाचार का प्रतिवाद तो आप निकाल ही दें।

सम्पादकजी ने कहा—भई, प्रतिवाद के लिये गुञ्जाइश कहाँ है। दो पन्ने का पेपर। अब बतलाइये कि इटली में जो मित्र-शक्तियाँ लड़ रही हैं वह किसके लिये? बिल्कुल हमारे लिये। वह समाचार हुआ। फिर फ्रान्स के नाजी जो आत्मसमर्पण नहीं करते वह किसके लिये? बिल्कुल हमारे समाचार-पत्र के लिये। उसके बाद इम्फल के मैदान से ये जापानी जो भाग रहे हैं वह भी हमारे लिये।

अब इन समाचारों के लिये तो जगह निकलती ही नहीं; फिर आपका प्रतिवाद किधर छापूँ?

मैंने कहा—समाचार छापने के लिये जगह थी और प्रतिवाद छापने को जगह नहीं। अजीब बात कहते हैं आप भी!

सम्पादकजी ने कहा—एक हिन्दी का लेखक लिखना-पढ़ना छोड़ कर वैज्ञानिक आविष्कारों के पीछे दीवाना हो जाता है, यह आश्चर्यजनक है। मतलब समझ गये, मतलब? मैं आश्चर्यजनक समाचार चाहता हूँ। अब इस बात के प्रतिवाद में आश्चर्यजनक क्या है? मतलब कुछ आश्चर्यजनक नहीं है। यदि आपके विषय में मुझे कोई आश्चर्यजनक संवाद मिले तो मैं उसे और भी छापने के तैयार हूँ।

सम्पादकजी की बात साफ थी। इन्हें संवाद नहीं चाहिये और सत्य समाचार तो बिल्कुल ही नहीं चाहिये। मुझे भय मालूम होने लगा कि कहीं यह न छाप बैठें कि बच्चू बाबू ने कोई आविष्कार कर डाला। तब क्या होगा?

झींखता हुआ लौट रहा था कि रुद्रदत्त मिश्र दिखलाई दे गये बोले—उदास मालूम होते हो बच्चू।

हाँ, उदास तो हूँ ही। पंडित जी से तमाम किस्सा बयान किया, बोला—अब खतरा यही है कि कहीं वे लोग यह न छाप बैठें कि बच्चू बाबू ने कोई आविष्कार कर डाला। तब मैं लोगों को क्या मुँह दिखलाऊँगा ?

पंडितजी ने कहा—भई, ये अखबारवाले ऐसे ही होते हैं। तीन वर्ष पहले का 'अंगार' पढ़ो तो मालूम हो। उसने छाप दिया कि पंडित रुद्राक्ष मिश्र जीवित हैं। लीजिये साहब, गोया मैं पहले जीवित ही नहीं था। अखबारों के बड़े-बड़े हथकंडे होते हैं। अब तुम्हें आविष्कारक बना डाला। खैर, कोई हर्ज नहीं। मैं सबसे निपट लूँगा।

मैंने कहा—लोग अब पूछना शुरू करेंगे कि क्या आविष्कार कर रहे हो तो उन्हें क्या बतलाऊँगा ?

पंडितजी बोले—तुम कोई चिन्ता न करो। मैं तुम्हारे साथ ही रहूँगा। जो भी पूछने को आवे उन्हें मेरे पास भेज दो। कहो कि पंडितजी मेरे प्राइवेट सेक्रेटरी हैं, वही सब जानते हैं।

तब मैंने आश्वस्ति की सांस ली। शायद विपत्ति से छुटकारा मिल जाय। × × ×

और आखिर वही हुआ जिसका डर था। दूसरे दिन दरवाजे पर एक मोटर खड़ी हुई और उसमें से तीन-चार आदमी उतर पड़े। सभी रईस मालूम होते थे। पास आकर बोले—महाशय, सुना है आप कोई आविष्कार कर रहे हैं।

जी, यह तो समाचारपत्रवालों ने मेरी बात पूरी भी नहीं हुई कि बगल से पंडित रुद्राक्ष मिश्र कड़क उठे—जनाब, इधर आइये; मैं आपको आविष्कार समझाऊँ। बैठिये। बैठ जाइये।

लोग हक्का-बक्का उनकी ओर देखने लगे। मैं खुद दंग हो गया।

ऊँची आवाज में रुद्राक्ष मिश्र ने कहा—आविष्कार सुनियेगा? सुनिये, पूरी तरह सुनिये। देखिये, यह पृथ्वी है सो नारंगी के समान गोल है। कहिये, है या नहीं? उसके बाद यह विश्व, जिसमें ग्रह हैं, नक्षत्र हैं, सूरज और सितारे हैं—अब बतलाइये इसकी शकल कैसी है? बच्चू बाबू ने आविष्कार किया है कि इसकी शकल अंडे के समान है। इसलिये हमारे हिन्दू-धर्म में इसे ब्रह्माण्ड कहा गया है। यह अंडे के समान है। अब आप रात के समय सोते रहते हैं। आपको क्या पता कि रात को कितनी घटनाएँ हो जाती हैं। आजकल कितने तारे गायब हो रहे हैं, इसकी खबर आपको है? अभी कल रात का वृत्तान्त है कि दो सौ बावन तारे गायब हो गये!

लोगों ने आश्चर्यचकित होकर मुँह फाड़ लिया। मैं भी आगे खिसक आया और बड़े गौर से अपने उस आविष्कार के बारे में सुनने लगा जिसके विषय में मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था। पंडित रुद्राक्ष मिश्र ने टेबिल पर घूँसा मारकर कहा—दो सौ बावन तारे गायब हो गये। अब आप बतलाइये कि वे तारे कहाँ गये?

रुद्राक्ष मिश्र के इस प्रश्न से चारों ओर सन्नाटा छा गया। खुद मेरी अक्ल भी घास चरने लगी। रुद्राक्ष मिश्र ने खड़े होकर कहा—भाइयो, बच्चू बाबू ने आविष्कार किया है कि संसार के समस्त तारे ईथर से रगड़ खा रहे हैं। ईथर से ये तारे घिसते जाते हैं और आदमी की दुम की तरह लुप्त हो रहे हैं।

अचम्भा! एक आगन्तुक ने कहा—यह तो बड़ा विकट आविष्कार है।

उनकी आवाज से साफ मालूम हो रहा था कि इनकी अक्ल भी घास चरने चली गई है।

रुद्राक्ष मिश्र ने कहा—आदमी के ऊपर भी ग्रह और नक्षत्रों का प्रभाव पड़ता है। आज के आदमी क्यों लड़ रहे हैं? बतलाइये कि आज के आदमी क्यों लड़ रहे हैं?

एक ने कहा—हिटलर ने जबरदस्ती संसार को युद्ध में लपेट दिया। उसे साम्राज्य चाहिये।

रुद्राक्ष मिश्र बोले—लेकिन चर्चिल क्यों लड़ रहे हैं। उन्हें तो साम्राज्य नहीं चाहिये। वे तो सबकी स्वतंत्रता के लिये लड़ रहे हैं। मगर मैं पूछता हूँ कि सबके लिए वे क्यों लड़ रहे हैं? सबकी स्वतंत्रता की उन्हें क्या जरूरत है?

सब चुप होकर एक दूसरे का मुँह देखने लगे। रुद्राक्ष मिश्र ने कहा—ये तारे जो ईथर में घिसते जाते हैं उस रगड़न का प्रभाव मनुष्य के मस्तिष्क में भी विचित्र रूप से पड़ रहा है। अब बच्चू बाबू एक ऐसे यंत्र का आविष्कार कर रहे हैं जिसमें आदमी को डाल देने से उस ईथर की रगड़ का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देने लगेगा। समझ गये? बच्चू बाबू इन्हीं महत्त्वपूर्ण आविष्कारों में मग्न हैं। यदि आप लोगों की दिलचस्पी हो तो फिर कभी आइयेगा और पूरा वृत्तान्त जान लीजियेगा। आजकल हमलोग आविष्कार के पीछे इस तरह परीशान हैं कि दम लेने की भी फुरसत नहीं मिलती। बच्चू बाबू तो बिचारे न खाते हैं, न पीते हैं, बस दिन-रात·····

उन लोगों में से एक ने कृतकृत्य होकर मुझे तीन बार प्रणाम किया और कहा—महोदय, आप-जैसे लोगों से ही भारतवर्ष का गौरव

है। यदि मेरी सेवा की कभी कोई जरूरत हो तो मुझे याद कीजियेगा। फिलहाल मैं अभी एक छोटी-सी रकम का चेक दिये जाता हूँ।

उन्होंने फाउण्टेनपेन निकाल कर चेकबुक पर कुछ लिखा और चेक फाड़कर मेरी ओर बढ़ा दिया। मैंने देखा, वह सौ रुपयों का चेक था।

गाड़ी स्टार्ट हुई और वे लोग चले गये।

पंडित रुद्रात्त मिश्र ने कहा—भई बच्चू, इस चेक में मेरा भी आधा हिस्सा है।

ठीक है! मैंने कहा और उस चेक को फाड़कर उसका आधा हिस्सा उनकी ओर बढ़ा दिया।

इस पर पंडितजी आग्नेय दृष्टि से मेरी ओर देखने लगे।

अविनाश

वही अविनाश है, जो सड़क पर चुपचाप चला जा रहा है।

जरा लम्बा आदमी, एकहरा बदन। यदि उसे युवक कहें, तो भूल होगी। २६—२७ वर्ष के अस्थिपुञ्ज पर यौवन की मूर्च्छित छाया पड़ी है। जेल के कैदियों की भाँति दाढ़ी बढ़ी हुई, मूछों का एक सघन जङ्गल। चेहरा देखकर लगता है कि जीवन में यह कभी नहीं हँसा होगा। एक तीव्र कटुता आँखों की स्थिरता में भर गई है, एक भीषण विरक्ति चेहरे से झलक रही है। आधा बाहोश, आधा बेहोश। अगर पागल कह दें, तो भूल होगी; क्योंकि वह अपनेको पागल नहीं समझता। वही अविनाश है, जो सड़क पर चुपचाप चला जा रहा है।

बरसात के दिन हैं। पानी बरसकर निकल गया है। रात का समय। आसमान काजल से भी काला लगता है। पानी में भींगी हुई हवा बह रही है। शहर का कोलाहल जागा हुआ है। बिजली की छबीली रोशनी में शहर का सारा व्यापार चल रहा है। ज्यादा नहीं, अभी आठ साढ़े आठ से अधिक नहीं हुआ होगा। और शहर की सबसे चौड़ी और सबसे व्यस्त सड़क पर अविनाश चुपचाप चला जा रहा है।

वह अविनाश कौन है, यह कोई नहीं जानता। जानने की किसी को जरूरत भी नहीं। वह खुद भी अपने विषय में विशेष अधिक नहीं जानता। अगर कोई अविनाश की ओर ध्यान दे, तो खुद उसी को आश्चर्य होगा। चलते-चलते अविनाश तय कर रहा है कि आज की यह काली शाम अन्तिम है, फिर वह कभी कोई संध्या नहीं देख सकेगा। आज का बीता हुआ दिन उसका अन्तिम दिन था, जिसमें उसने दिनभर बैठकर निश्चय किया था कि जीवन ही दुखद है, मौत एक शान्तिप्रद ठंढी चीज है। उसने निश्चय किया था कि अब आज ही अपनी सारी ज्वालाओं का अन्त कर देगा।

उसने अपने चारों ओर के वातावरण में आजतक केवल दुख ही दुख देखा है। चीत्कार, कोलाहल, रुदन, हाहाकार..... इन सबके अतिरिक्त वह ढूँढ़कर भी कोई ऐसी चीज नहीं निकाल सकता, जिसको अपने हृदय में ले ले और प्रमुदित खेलता रहे। और इसीलिये वह चाहता था कि आज ही सारी यातनाओं का अन्त हो जाय। वह चला जा रहा है कि किसी एकान्त स्थान पर जाकर वह आत्महत्या कर लेगा। मन ही मन उसने अपना स्थान

भी चुन लिया है। रेलवे लाइन के किनारे जरा दूर हटकर जो एक सघन बड़ का पेड़ है !····कल सबेरे वहीं उसकी लाश झूलती मिलेगी। पुलिस की दो-चार लाल पगड़ियाँ वहाँ चिल्लाकर आज्ञा देती दिखाई देंगी—'रस्सी काटकर लाश को उतार लो !' ····· स्कूल के लड़के किताब बगल में दबाये हुए डर से भागेंगे।····अविनाश ने हँस दिया, सहज-सहज स्वाभाविक तौर पर। जेब में हाथ डालकर देखा कि उसकी फाँसी की रस्सी सुरक्षित है कि नहीं। फिर वह बोला—'ठीक है !' इसके बाद उसने चौंककर आँखें फिराईं कि कहीं कोई सुन तो नहीं रहा है। लेकिन एक ही दृष्टि में उसे मालूम हो गया कि इतनी सतर्कता की जरूरत नहीं है। वह फिर हँसा और पहले की अपेक्षा अब तेज चलने लगा।

अविनाश किस कुल का है, यह उसे स्वयं मालूम नहीं। जब उसने होश सँभाला, तो अपनेको एक अनाथालय में पाया। सभी उसे 'अविनाश' के नाम से पुकारते थे और वह भी अपना यही नाम जानता था। लेकिन जब वह सोचता है, तो उसे अनुमान होता है कि सम्भवतः उसका कोई दूसरा असल नाम भी होगा, जो अविनाश के नाम से बहुत भिन्न और मौलिक होगा। वह पाँच वर्ष की अवस्था में भूख से विकल पेट पर हाथ ठोक-ठोक कर गिड़गिड़ाते हुए भीख माँगता पाया गया था। इसी शहर की बात है। होश होने पर उसने अपने अनाथालय को एक मायाजाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया। पाँच वर्ष की अवस्था में वह अकेला भीख माँगते हुए पाया गया था; लेकिन अनाथालय जाकर अपने साथियों के साथ उसे घर-घर बैण्ड बजा कर भीख माँगनी पड़ती

थी। अनाथालय में प्रबन्ध की अपेक्षा कुप्रबन्ध ही अधिक था। अविनाश की प्रकृति सहनशील न निकली और वह एक दिन अनाथालय के मन्त्री महोदय की घड़ी चुराकर वहाँ से भाग गया। उसे मिडिल तक की शिक्षा मिली थी। उसके बाद से वह जीवन की सबसे निम्नतम सतह में घोर सङ्घर्ष में था।

जीवन के कैसे-कैसे दिन बीते हैं, वह इसकी ओर से कैसा निर्मम रहा है, अविनाश सब कुछ समझता है। लेकिन पीछे उसे अपने जीवन से भी प्रेम उत्पन्न हुआ। एक बार सत्याग्रह-आन्दोलन में भाग लेकर वह जेल गया था। जेल में कम-से-कम खाने को अवश्य मिल जाता था, लेकिन वहाँ से छूटते ही वह बेकार होकर इधर-उधर मारा-मारा फिरने लगा। जिन्होंने कानून तोड़ते समय उसके गले में फूलों की मालाएँ डाली थीं, उसका कहीं पता नहीं लगा। रोज स्टेशन के मुसाफिरखाने में सोता और दिनभर नौकरी की खोज में इधर-उधर चक्कर काटता। फिर गले में झूठा यज्ञोपवीत डालकर ब्राह्मण बन गया और एक बंगाली ठेकेदार के यहाँ रसोइये का काम करने लगा। वहाँ अविनाश के सुख के दिन थे। कहारिन दाई की एक गेहुँआ रंग की छोकरी थी, जो उससे आँखें मिलने पर झेंप जाती थी। अविनाश मुसकराता था, तो वह बेहद लजा जाती थी, मुसकरा देती थी और चली जाती थी। प्रेम का स्वाद उसने यहीं पाया। मगर सुख के ये दिन अधिक टिक नहीं सके। सबको मालूम हो गया कि यह ब्राह्मण नहीं है। 'ताड़ाओ-ताड़ाओ' की आवाज से घरभर में हल-चल मच गई। अविनाश को सबों ने निर्मम होकर पीटा। उस समय, जिस समय लोग उसे मार रहे थे, जिन सुघड़-सलोने दो आँखों

में करुणा और समवेदना भर गई थी और दो मोती गालों पर ढुलक आये थे, अविनाश उन कातर, भयविह्वल दोनों आँखों को याद करके आज भी विकल होकर रो उठता है। उसने मन ही मन प्रतिज्ञा की थी कि चाहे जैसे भी हो, मैं उसे अपनी बनाऊँगा, अपने छोटे-से घर में उसे रानी बनाकर रखूँगा ; लेकिन यह आसान-सी प्रतिज्ञा भीष्म और जनक की प्रतिज्ञा से भी कितनी घोर और भीषण है, यह उसे मालूम न था। जो स्वयं दाने-दाने को मुहताज हो, वह दूसरे को कहाँ तक खिला सकता है ? और उसका एक छोटा-सा घर !'''''असम्भव है, असम्भव से भी ज्यादा है।

२

इधर तीन-चार दिनों से अविनाश भूख के मारे सड़कों और गलियों में इसीलिये फेरी दिया करता था कि किसी हलवाई या नानबाई की आँख बचाकर कुछ ले भागे ; लेकिन वह सफल न हो सका। हलवाई की दूकान के सामने जूठी पत्तलों का ढेर फेंक दिया जाता, उन पर कँगले टूट पड़ते। अविनाश व्याकुल हो उठता कि वह भी इसी दल में शरीक हो जाय ; लेकिन वह प्राणपण से अपनेको रोकता और जिस समय कँगाल पत्तलों को तृप्ति के साथ चाटते हुए दिखते, वह अपनी फटी हुई कमीज के बटन को बड़ी तेजी से लगाता हुआ कहता— 'लूट लो साले, मुफ्त का माल है ; लूट लो !' और वह ठहरता भी नहीं, वहाँ से बड़ी शीघ्रता से चल देता, मानों किसी शत्रु से पिण्ड छुड़ा रहा हो। चलकर वह अपने निवास-स्थान पर पहुँचता। वहाँ वह महीनों से रह रहा था। न जाने किस आदमी का बनाया हुआ एक जराजीर्ण खँडहर भूमिसात् हो रहा था, वहीं के एक सुरक्षित कोने में अविनाश का निवास-स्थान था। दो-एक फटी-पुरानी गुदड़ी,

एक न मालूम किस जमाने का फटी हुई दुशाला। खूँटी पर दो-तीन मैली और फटी हुई कमीजें लटक रही थीं। दीवार पर एक ओर महात्मा गांधी की तसवीर चिपकाई हुई थी। लोहे का एक छोटा-सा चूल्हा भी था, जिसका उपयोग इधर कई हफ्तों से नहीं हुआ था। इतनी ही अविनाश की गृहस्थी थी। वहाँ पहुँचकर अविनाश बैठ जाता। उसकी समझ में आता ही न था कि वह क्या करे। भीख उससे माँगना सपरता न था। यह नहीं कि उसे माँगने में भी लाज आती हो, बल्कि इसलिये कि माँगते ही लोग सीधा-सा परामर्श दे देते थे —'कहीं कुछ काम करके पैसा पैदा करो, इस भरी जवानी में भीख माँगना शर्म की बात है, और इसका कोई जवाब नहीं था।

पाँच दिनों से उसने पानी पी-पीकर पेट की आग बुझाई थी। उसे रह-रहकर चक्कर आते, चलते-चलते उसकी तीव्र इच्छा होती कि किसी उपाय से यहीं पर लेटकर थोड़ी देर आराम कर लें, तब आगे जायँ। चेहरा बिलकुल बदहवास की तरह लगता। आँखों की ज्योति मन्द पड़ गई थी। चीजें उसे हिलती-डोलती-सी नजर आतीं, लेकिन उसके लिये और कोई चारा नहीं था। सड़कों पर घूमता, नल में पानी पीता और किसी तरह अपने निवासस्थान पर पहुँचकर एक आश्रय पा जाता। न जाने क्यों, इस प्रचण्ड भूख के समय उसे निमकी खाने की बड़ी इच्छा होती थी। वह कभी-कभी तो सड़क पर चलते हुए भी आँखें बन्द करके सोचने लगता, यदि अभी सोंधी गरम-गरम निमकी मिल जाती। ज्यादा नहीं, बस पाव भर। रात को वह स्वप्न देखता, न जाने कहाँ निमकी बट रही है। और वहाँ लोगों की भीड़ पर भीड़ लगी हुई है। निमकी बाँटनेवाला उसका कोई परिचित

आदमी है ; लेकिन वह उसका नाम नहीं बतला सकता। उसे भी थोड़ी-सी निमकी मिली है और वह खाना चाहता है ! लेकिन खाने के पूर्व ही उसकी आँखें खुल जातीं ! वह देखता, खँड़हर के ऊपर कौए टर्रा रहे हैं, दिन चढ़ आया है। पेट में एक भीषण ज्वाला जलती-सी लगती। वह कहाँ जाय, कैसे इस दईमारी भूख को शान्त करे ? लाचार उठकर पानी के नल का आश्रय लेना पड़ता।

परसों एक अचरज की बात हो गई। सबेरे उसने देखा, एक लकदक पोशाकवाली हिन्दुस्तानी मेम उस खँड़हर में पहुँच कर उसे झाँक रही है। अविनाश को देखते ही वह चीत्कार करके वहाँ से भागी। अविनाश भी घबरा कर उठा। बाहर से आवाज सुनाई पड़ी—क्या हुआ डार्लिंग ?

'आदमी ! वहाँ एक आदमी है !'—कोमल कण्ठ से शायद मेम साहब ने जवाब दिया।

पहलेवाला आदमी बोला — 'यहाँ तो छिपकली भी रहना पसन्द न करेगी। तुम्हें धोखा हुआ होगा।'

अविनाश ने बाहर निकलकर देखा, सूट-बूट से सज्जित एक हिन्दुस्तानी साहब और एक मेम। उसे इस बात की बड़ी लज्जा आ रही थी कि उसकी दाढ़ी इतनी क्यों बढ़ी हुई है, उसके कपड़े इतने मैले क्यों हैं। वह भूल गया कि वह कई दिनों से भूखा है।

'तुम यहीं रहते हो ?' साहब ने पूछा।

अविनाश ने संकुचित, हारे हुए स्वर में जवाब दिया—'जी, मैं पिछले छः महीने से यहीं रहता हूँ। संसार-भर में इसके अलावा मेरे लिये और कहीं कोई जगह नहीं है।'

मेम साहब ने कहा—'शायद इसने देखा हो।'

साहब ने कहा—'हाँ, इधर आने से तो जरूर देखा होगा। क्यों जी, तुमने इस खंड़हर में कोई स्पेनियल कुत्ता देखा है ?'

अविनाश ने निराशाजनक सिर हिलाकर जवाब दिया—'जी नहीं, देखता तो आपको बतला देता।

मेम साहब ने कहा—'मेरा काले रङ्ग का कुत्ते का बच्चा खो गया है। यदि उसे खोजकर ला सको, तो तुम्हें दस रुपये इनाम मिलेगा।'

दस रुपये। अविनाश जैसे आसमान से गिर पड़ा। दस रुपये इस संसार की समस्त सम्पति से भी उसे बड़े मालूम होते थे। उसने दृढ़ कण्ठ से कहा—'मैं अवश्य खोजूँगा।'

'खोजना।' साहब ने चलते-चलते कहा—'मेरा बँगला यहाँ से नजदीक है। हरे रंग का फाटक है। तुमने देखा होगा।'

अनिवाश ने कोई जवाब नहीं दिया। साहब के कुछ दूर चले जाने पर उनके सामने लपक कर पहुँचा और बोला--'हुजूर, मैं कई दिनों का भूखा हूँ !'

साहब ने कहा—'यह तुम लोगों की आदत है। पहले कुत्ते को खोजो। तुम्हारा मिहनताना मिलेगा। उसका नाम 'पापी' है। पुकारने पर चला आता है। काले रङ्ग का है। समझ गये ?'

साहब आगे बढ़ते गये। अविनाश दस-पन्द्रह गज फिर भी उनके साथ गया ; फिर निराश होकर लौट आया। दोनों में से किसीने उसपर ध्यान तक नहीं दिया।

अविनाश आकर अपनी गुदड़ी पर लेट गया और लेटे-लेटे बोल

उठा—'जो कुत्ता खो गया है, उसके लिये दस रुपये और जो आदमी आँख के सामने मर रहा है, उसके लिये कुछ भी नहीं !'

३

भूख ! भूख !! भूख !!···

आज सबेरे उठकर अविनाश ने निश्चयात्मक प्रतिज्ञा की, वह अवश्य कुछ खायेगा, अवश्य ही खायेगा, चाहे जैसे भी हो ! और नहीं तो स्टेशन पर हलवाई की दूकान। जहाँ जूठी पत्तलें फेंकी जाती हैं, जहाँ दीन-दुर्बल कँगले झपटते हैं। वह उन लोगों को ढकेल देगा और जूठी पत्तलें बटोर लेगा। लोग कहेंगे, औघड़ है, कहीं का पहुँचा हुआ संन्यासी है। लेकिन लोगों ने तो मजदूरी माँगते भी देखा है, और नौकरी के लिये दर-दर भटकते भी देखते हैं। तो ?···

लेकिन चेष्टा करने पर भी उससे अपना खँड़हर छोड़ा नहीं गया। बड़ी मुश्किल से उठ सकता था। उबकाई-सी आती थी। चलता था तो डग-डग में सिर में चक्कर। अपनी गुदड़ी पर लेटा हुआ वह निराशा-पूर्वक सिर हिलाकर बोला—'अविनाश यहीं लेटे-लेटे मर जायगा, मर जायगा ! चलो छुट्टी हुई !' और पागल की तरह आप ही आप मुसकराने लगा।

दोपहर को नींद टूटी। उसे एक अजीब तरह की शान्ति और एक विचित्र प्रसन्नता-सी मालूम हो रही थी। पेट पीठ से चिपक गया था, साँसों की गति में धीमापन था। उसने उठना चाहा, लेकिन चक्कर आने लगे। अरराकर पुनः अपनी गुदड़ी पर गिर पड़ा। उसे मालूम होने लगा कि सबेरे उसने कोई अद्‌भुत प्रतिज्ञा की थी। वह कौन-सी प्रतिज्ञा थी ? वह शरीफ आदमी बनेगा ? नहीं-नहीं, वह आज अवश्य

कुछ खायगा ? नहीं, बात भी नहीं थी। यह तो बाद की प्रतिज्ञा थी। सबसे पहले उसने निश्चय किया था कि इस जिन्दगी से मौत भली है, इसलिये ·····हाँ-हाँ, उसने यही प्रतिज्ञा की थी कि आज इस घोर शत्रु से छुटकारा पाना ही होगा। बस आज शाम··को अँधेरी रात है··कोई नहीं देखेगा। रेलवे लाइन के किनारे एक बड़ का पेड़ है। उसकी टहनियों पर सुग्गे बैठते हैं। उसीकी छाया के नीचे से पगडंडी गई है।···लोग कहेंगे, अविनाश मर गया।··कौन कहेगा ?..अविनाश की आँखों से आँसू गिरने लगे। वह मर भी जायगा, तो भी कोई नहीं कहेगा कि अविनाश मर गया !··लेकिन क्या उसने मरने की प्रतिज्ञा की थी ? कब की थी ? सबेरे तो उसने जोर-जोर से यही कहा था—आज मैं कुछ अवश्य खाऊँगा !' लेकिन उसके पहले ? मरने की प्रतिज्ञा ?··शायद की थी, शायद नहीं की थी, नहीं-नहीं, की थी, अवश्य की थी। जीवन में ही कौन-सा सुख है ? तो·····हाँ-हाँ, याद आ गया, सबेरे मरने की प्रतिज्ञा की थी।·····

थोड़ी देर के बाद वह दीवारों का सहारा लेता हुआ बाहर निकला। दूर घास पर बैठा हुआ कौओं का एक झुण्ड काँव-काँव करके उड़ गया। क्या बात है ? उसने देखा कि वहाँ भात का थोड़ा-सा ढेर है, जिस पर कौए बैठ कर आनन्द मना रहे हैं। उसने फुर्ती से ढेला उठाकर फेंका और भात की ओर दौड़ गया। सचमुच पेट भरने लायक काफी भात था। वह निःसङ्कोच बैठ गया और जल्द-जल्द खाने लगा। उस भात में नमक भी मिला था, एक सड़ाँद-सी उसमें से निकल रही थी। क्या बात है ? कहीं किसी कुत्ते ने यहाँ आकर कै तो नहीं की है ? नहीं-नहीं, कुत्ता क्यों आवेगा। उसने ईश्वर से भोजन के लिए प्रार्थना

की थी। अविनाश ने आँखें बन्द करके कहा—'उस ईश्वर को धन्यवाद, जो सभी को भोजन देता है !'

मगर वह ज्यादा खा नहीं सका। एक मिट्टी की ढकनी लाकर बाकी भात को ढक दिया। उसे भात की गन्ध की याद करके बार-बार कै करने की इच्छा होती थी। सोचा, तनिक सो लूँ तो तबीयत ठिकाने आ जायगी। सहसा उसने देखा, एक मरियल-सा कुत्ता घनी घासों में पड़ा सो रहा है। इस कुत्ते को उसने पहले क्यों नहीं देखा ? क्या आज वह कुत्ते का कै किया हुआ भोजन खा गया है ? यही बात होगी, नहीं तो आज तक यहाँ किसीने भात नहीं फेंका तो आज ही कहाँ से आ जायगा। उसने क्रोधपूर्वक ढेला उठाया और कुत्ते को गाली दी। ढेला लगने के पहले ही कुत्ता 'क्याऊँ' करके उठा और दुम दबाकर वहाँ से भागा।

अविनाश को बेतरह उबकाई आने लगी। कै करने की बहुतेरी कोशिशें कीं ; लेकिन निगला हुआ भात उगला नहीं गया। उसने मुँह में दोनों तर्जनियाँ डाल लीं, जोर-जोर से 'ओ-ओ' करके कै करनी चाही। उसे मालूम होता था कि अब कै हो जायगी, अब कै हो जायगी, लेकिन हुई नहीं। उसने उठना चाहा ; लेकिन सिर में चक्कर आ गया और वह बेहोश होकर वहीं धरती पर गिर पड़ा।

शाम को जाकर बेहोशी दूर हुई। इस समय उसे काफी जोर मालूम हो रहा था। वह ऐसी तेजी से उठकर खड़ा हो गया, मानों वह कई आवश्यक कामों को छोड़कर सो गया था। वह स्थान उसके खँड़हर का बरामदा था। उसने देखा, शाम हो आई है और पानी बरस रहा है। वह झटपट उठा और कमरे से बटी-बटायी रस्सी लेकर

वहाँ से चल पड़ा। उसे याद आया, आज वह कुत्ते का उगला हुआ भात खा गया था; लेकिन उबकाई नहीं आयी। उसने सोचा, आज ही मैं मर जाऊँगा; लेकिन उसे भय या खेद कुछ भी नहीं मालूम हुआ। बाहर निकलकर उसने एक बार आश्रयदाता खँड़हर को देखना चाहा; लेकिन देखा नहीं। तेजी से आगे बढ़ गया। इतनी तेजी से आगे बढ़ा कि वह शीघ्र ही उस स्थान से इतनी दूर चला जाय कि पलट कर देखने से भी उसका खँड़हर दिखलाई न दे।

बहुत दूर पहुँच कर सड़क के एक मोड़ पर वह खड़ा हो गया। इधर-उधर देखा। वह हाँफ रहा था और विचार रहा था, उस खँड़हर में ऐसा तो कुछ नहीं था जो मुझे रोक लेता।

सामने एक बनिया की दूकान थी। वह लालटेन जला रहा था। अविनाश ने वहाँ पहुँच कर कहा—साहजी, एक बीड़ी तो पिलाइये।

बनिया ने कुछ बुदबुदा कर लालटेन को बड़ी भक्ति से प्रणाम किया; फिर अविनाश से पूछा—क्या है?

'एक बीड़ी पिलाइये। बहुत थक गया हूँ।' अविनाश एक परिचित की तरह उसके सामने मुसकराने लगा।

बनिया उसकी ओर कुपित आँखों से देखकर व्यंग्यपूर्वक बोला—'बीड़ी? आपके लिये बीड़ी रखी हुई है। कल आकर पी जाइयेगा।'

यह जवाब सुनकर अविनाश इतने जोर से अट्टहास कर उठा कि बनिया भी घबरा गया। उसकी तीव्र इच्छा हुई कि बनिया को गद्दी पर से खींचकर पटक दे; लेकिन हँसने के बाद उसने एक बार आग्नेय दृष्टि से उसकी ओर देखा और दूकान पर से उतर गया।

४

वही अविनाश है, जो सड़कपर चुपचाप चला जा रहा है।

अब वह किसी से कोई उमीद नहीं रखता, वह अवश्य मरेगा। उसके मन में किसी प्रकार की हलचल नहीं है। कोई दुःख नहीं, कोई खेद नहीं। वह इस तरह धीरे-धीरे इतमीनान के साथ चल रहा है, जैसे कोई भला आदमी हवाखोरी के लिये निकला हो।

सेकरीन

जिसे पढ़ना कहते हैं वह तो दिल लगाकर पढ़ा है। लड़कपन में जब 'प्रथम पुरस्कार' पाकर दोस्तों के बीच से अकड़ता हुआ निकलता था तब क्या अपने को किसी डिपुटी-कलेक्टर से कम समझता था? उसके बाद की कहानी कारुणिक है। स्नावलम्बी होकर ग्रेजुएट होने में कोई रस नहीं मिला। ट्यूशन करने में वक्त निकल जाता था और जब मेरा परीक्षा-फल निकलता था तो यही देखकर तसल्ली होती थी कि किसी तरह पास हो गया हूँ। उसके बाद टाइप करना सीखा, शार्टहैण्ड की प्रैक्टिस की। अब पचास रुपये माहवार पर एक सीमेण्ट के व्यापारी का 'स्टेनोक्लर्क' हूँ! सो भी समझिये, भाग्य है! मेरे पचासों साथी अभी तक बेकारी के दिन गिन रहे हैं। जिन्दगी तो उनकी भी भारी है मेरी भी। पता नहीं चलता कि इस जीवन में कहीं कोई उत्साह या आमोद भी है।

मुझे अपने पुराने मित्रों से मिलकर आनन्द आता है। पुरानी स्मृतियाँ जागृत हो जाती हैं। पुरानी बातों के अन्दर रस आता है। इसी उम्र में बूढ़ा जो हो गया हूँ। पुरानी बातें पसन्द क्यों न करूँ?

और पुराने मित्रों से मिलने पर एक सान्त्वना यह भी मिलती है कि कोई भी तो अपने को सुख का दावेदार नहीं बतलाता। सब जैसे लाचार हैं, सब अभावग्रस्त हैं, और धीरे-धीरे पैर बढ़ाते हुए अपने कुहरे से घिरे हुए भविष्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं। सबसे बड़ा तमाशा तो यह है कि हमलोग भी भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार आदर्श और पैसेवाले व्यक्ति समझे जाते हैं। कहिये तो कहेंगे कि पोजीशन भी है। लोग विस्मय से अवाक् होकर मेरी ओर देख बैठते हैं। अरे, यह तो प···चा···स···रुपये पाता है। अरे, धिक्कार इन पचास रुपयों को! सच जानो, हम बड़े गरीब हैं। मुश्किल है, कोई सुनता ही नहीं। सुनता भी है तो बात उसकी समझ तक पहुँचती ही नहीं।

कहता हूँ, चलो, चल रहा है। चलने दो इसी तरह। सब तो मेरे समान ही अभावग्रस्त हैं। प्रकारान्तर होनेपर भी बात एक ही है। मुझे अपने पुराने मित्रों से मिलने में आनन्द आता है। दिल को तसल्ली हो जाती है। जैसे दो घायल अपने-अपने घावों को देखते हैं, फिर एक दूसरे की ओर नजर डालकर सोचते हैं कि इसे तो कम पीड़ा नहीं होती होगी।

लेकिन सब तो अपने-अपने धन्धे में व्यस्त हैं। किसे इतनी फुरसत है कि रोज मिलते रहें। पेट और परिस्थिति का सवाल ही बेढंगा होता है। मुझे ही देखिये। गिनकर तो महीने में पचास मिलते हैं जो हमारे घर के प्राणियों की उँगलियों से भी गिनती में कम हैं। ऊपर से फुरसत नहीं रहती। दो-तीन साल में छुट्टी पाकर कहीं जा पाता हूँ कि जी रहा हूँ।

अबकी छुट्टी मिली तो कलकत्ते जा पहुँचा। बड़ा बढ़िया शहर है। सुख की सारी सामग्रियाँ जैसे लुट रही हैं। कितना अपार वैभव

है, कैसी अविरल शान्ति है! जो चाहो, वही मिल सकता है। लेकिन मैं तो हूँ अभावग्रस्त। चुपचाप घूमता हूँ और देखता हूँ। केवल देखकर ही अगर सन्तोष और सुख मिल सकता है तो मुझे भी समझिये कि मैं सुखी और सन्तुष्ट हूँ।

उस दिन कालेज-स्ट्रीट में क्या देखता हूँ कि दामोदर जा रहा है। दामोदर मेरा पुराना साथी है। हमलोग साथ-साथ 'आमोद-पाठ' से लेकर 'मैट्रिक-मैनुएल' तक पढ़े हैं। अजीब आदमी था यह; शान में कहता था कि पढ़ने से क्या होता है! और इससे अधिक पढ़ा नहीं गया। मैं गरीब आदमी था, आशा और उत्साह को बटोर-बटोर कर पढ़ता ही रहा। मुझे गरीबी से आगे बढ़कर क्लर्की करनी थी। पचास रुपये कमाने थे। और फिर मैं दामोदर को भूल ही बैठा। न जाने इतने दिनों तक वह कहाँ रहा, क्या करता रहा, कैसा है अब? दामोदर को सहसा देखकर मैं चकित, उल्लसित हो उठा। फिर सन्देह भी उठा कि आखिर यह दामोदर ही है या कोई दूसरा?

नहीं-नहीं, वह दामोदर ही था। बढ़िया पतलून पहने हुए था, मजेदार कपड़े की हाफ कमीज। गलेसे बँधी हुई टाई छातीपर झूल रही थी। कपड़े सभी बेशकीमत थे। खुली बाँह के नीचे कलाई पर चौड़े स्ट्राइप में बँधी हुई वह घड़ी कितनी अच्छी लगती थी। ग्लास्किट के जूते पर पालिश चमचमा रही थी। वाह, दामोदर बड़ा आदमी हो गया! खुशी मुझे होनी ही चाहिये थी।

जरा झिझक आई कि अगर नहीं पहचाने तो भद्द होगी। अच्छा होने दो भद्द; एक बार पुकार कर तो देख लूँ। और पुकार ही बैठा—"दामोदर"!

दामोदर रुका, मेरी ओर देखा और देखते ही पहचान भी लिया "कौन ; अरे भई नन्हें ! तुम यहाँ कहाँ ?"

"छुट्टी है, बिताना तो चाहिये। सोचा कि इसे अच्छी तरह बिताना ठीक होगा। इसीलिये कलकत्ते आ गया।"

दामोदर मुझे पाकर वस्तुतः बड़ा प्रसन्न हो रहा था। उसकी बड़ी-बड़ी उज्ज्वल आँखें चमक रही थीं। होठों के किनारे-किनारे मुसकराहट जैसे हिलकोरे ले लेती थी। पूछा—"हो तो मजे में ?"

" बस, चल रहा है किसी तरह !" मैंने कहा—"तुम किस शगल में हो ?"

"मेरी न पूछो, पचासों शगल हैं। तुम्हारी तरह क्वॉलिफिकेशन तो लिया नहीं कि कहीं आराम की नौकरी मिल जाती। अब समझो कि जितनी तरह के काम हैं सबमें अपनी टाँग अड़ाये रखता हूँ। स्टेशनरी की एक दूकान है, लकड़ी का कारबार करता हूँ। समझो, पचासों काम हैं !"

" और तुम इस तरह मस्त घूम रहे हो ! तुम्हें तो दूकान पर होना चाहिये था ।" मैं कहता गया और सोचता गया कि जरूर ही यह बड़ा आदमी हो गया है । नौकर-चाकर काम देखते हैं और यह आजाद घूमता है । वाणिज्ये वसते लक्ष्मी !—बड़ी पुरानी कहावत याद आ गई ।

और मेरी बात ठीक ही निकली। उसने कहा—" हाँ, मैं घूम रहा हूँ। काम आदमी लोग देखते हैं। चलो, चाय पियोगे ?"

चाय की वैसी आदत नहीं है ; लेकिन दामोदर की बात उठा नहीं सका । दूकान पर चाय पी। दामोदर को चाय से प्रीति नहीं

जान पड़ी। उसने कॉफी के लिये आर्डर किया और मुझसे भी इसके लिये आग्रह करने लगा। लेकिन कॉफी में जो एक प्रकार का सोंठ का-सा स्वाद आता है वह मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं केवल चाय और 'पेस्ट्री' से ही तृप्त रहा। वही बहुत था जो मुझे कभी नहीं मिलता था। दामोदर की बात कौन चलावे, वह बड़ा आदमी हो गया है। जो चाहे वही पी सकता है।

हाँ, जरूर ही वह बड़ा आदमी हो गया है। जब हमलोग उस काफे से बाहर निकले तो उसने पुकारा—"टैक्सी!"

२

थोड़ी देर बाद हमलोग दामोदर की दूकान पर थे। दूकान का नाम 'डी० डी० ऐण्ड कम्पनी'—मतलब, दामोदर दास एण्ड कम्पनी। दामोदर के बड़े आदमी होने में कसर ही क्या थी। बड़ा भाग्यशाली है यह। इसने क्या से क्या कर लिया! इसके बाप तो वैसे बड़े आदमी नहीं थे। नाममात्र की थोड़ी-सी जायदाद थी। उससे तो कुछ होने-जानेवाला था नहीं। दामोदर ने सबकुछ अपने परिश्रम और अध्यवसाय से अर्जन किया होगा। मुझे बड़ा कुतूहल मालूम हो रहा था, प्रसन्नता मालूम हो रही थी और अगर झूठ न बोलूँ तो ईर्ष्या भी मालूम हो रही थी। मैं एक क्लर्क जो था, संकीर्ण हृदय; सम्पूर्ण जीवन घिसटता ही रहा। मुझे तो छोटी-सी-छोटी चीज के लिये भी ईर्ष्या हो सकती है। और यह अतुल सम्पत्तिशाली तो मेरा मित्र है, साथी। साथी होकर भी हमलोग दिशा-ज्ञान भूल गये। वह ठीक राह चला गया और मैंने गलत गली पकड़ ली। मेरी गली में अन्धकार था, कुढ़न थी और मौन

थी। इसके अलावा तो और कुछ नहीं था। इधर दामोदर के पथ पर प्रकाश था, आनन्द था और मृत्यु के बाद भी वह जीवन था जो दूसरों के जीवन को सुखी बना सकता था। मुझे ईर्ष्या इसी बात की थी कि मैंने गलत राह क्यों पकड़ी। पचास रुपयों की एक सड़ी रस्सी में अपने जीवन को बाँधकर क्यो टाँग दिया? बस यही बात थी, और नहीं तो दामोदर से मेरा बैर क्या, ईर्ष्या कैसी; वह तो मेरा साथी है, पुराना साथी। टिफिन की छुट्टियों के समय हमलोग उस एंग्लो बैरिस्टर की फुलवारी में लीची चुराने जाते थे और भर-भर जेब लाते थे। उस समय मन में ऐसा आता था कि दर्जी जो हमलोगों की कमीजों की जेबों को सीता है, सा इतनी छोटी-छोटी क्यों सीता है? बड़ी-बड़ी सीता तो लीची चुराने और खाने में और भी आनन्द आता। लेकिन अब तो वह जमाना कहाँ खो गया। आज हमलोग बहुत दिनों पर मिले हैं। मैं क्लर्क हूँ और वह बड़ा आदमी है!

मैं कुतूहल से दूकान की चीजों को देख रहा था। राशि-राशि चीजें एकत्र थीं और बड़े करीने से सजाई गई थीं। सजाने का ढंग ऐसा अनोखा था कि जिस चीज की ओर आँखें जातीं उसीको लेने का मन होता, उसीकी जरूरत मालूम होती। गड्डु के गड्डु बिस्कुटों के डिब्बे, मक्खन और क्या-क्या। सेण्ट की ऐसी विचित्र-विचित्र और अद्भुत शीशियाँ। इतनी अधिक चीजों की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता हूँ तो वर्णन क्या कर पाऊँ?

दामोदर ने टेबिल-फैन चला दिया और आप कुरसी पर बैठा हुआ था। वहीं पर उस दूकान का मैनेजेर बैठा हुआ, सिर नवाये, उँगलियों के पोरों पर तर्जनी चलाता हुआ, अंकों के नाम का उच्चारण कर रहा

था। शायद किसी जोड़ में भूल हो गयी थी और वह टोटल मिला रहा था। दामोदर ने मेरी ओर देखकर कहा—"आओ भई, बैठो।"

बैठ गया जाकर। पूछा—"दूकान में कितने का माल होगा?"

"पचास हजार का!" दामोदर ने विमनस्क-भाव से कुछ ऐसा कहा मानों यह इतनी छोटी रकम है कि वह परवा नहीं करता।

और मेरा दिमाग चक्कर खा रहा था। पचास हजार तो मैंने स्वप्न में भी नहीं देखे होंगे। वाह रे दामोदर! खूब किया तुमने। बचपन में लीची भी तो तुम्हीं मुझसे अधिक चुराते थे।··· तो हाँ, यह बात अवश्य थी कि उस समय सिर्फ पचास और पचीस हजार का अन्तर नहीं था। यह तो समय की खूबी और राह पकड़ने की बात है।

जो आदमी जैसी राह पकड़ता है उस राह में बिलकुल सीधा चलता है। इस दुनियादारी के जमाने में दायें-बायें देखने की फुरसत किसको है? दामोदर और मैं कुछ ऐसे बेमेल हो गये थे कि मेरी ओर ध्यान देने में उसकी हेठी थी। ऐसी अवस्था में यही क्या कम था जो दामोदर मुझसे बिना किसी भेद-भाव के बातें कर रहा था। मुझमें खुद झिझक थी। मामूली आदमी हूँ न! वह स्वतंत्र व्यापारी सम्पत्तिशाली·····

मन में उस दूकान की विशालता और गौरव भर लेने के बाद हमलोग लकड़ी का कारबार देखने गये। हावड़ा-स्टेशन के एक छोर पर बहुतेरी लकड़ियाँ पड़ी थीं। दामोदर ने उन्हें दिखलाकर कहा—"देखते हो न, वे अपनी लकड़ियाँ हैं। बहुत-सी तो यहीं बिक जाती हैं, जो बचती हैं उन्हें गोदाम में ले जाकर रखवाता हूँ।"

मैंने कहा—"तुम्हारी लकड़ियों का गोदाम कहाँ है ?"

बोला—"हाजरा-रोड पर। यहाँ से बहुत दूर है। चलोगे ?"

जरूरत तो जाने की बिलकुल नहीं थी, पर मैंने कहा—"चलूँगा।"

मन में हुआ कि तुम्हारा यह वैभव देखा तो वह भी देख लूँ। अच्छी तरह देखूँगा तो अच्छी तरह याद भी रहेगा कि जीवन का सदुपयोग किसे कहते हैं, सफलता का मतलब क्या है। अपनी असफलता पूरी तरह देखी है, तुम्हारी सफलता भी सम्पूर्ण रूप से देख लूँ।

लेकिन दामोदर जाने की उत्सुकता न दिखला कर वहीं एक लकड़ी के कुन्दे पर बैठ गया और जेब से पाउच और कागज निकाल कर सिगरेट बनाने लगा। सिगरेट जब गोल और ठीक हो गई तो उसमें थूक लगाकर सिगरेट की पोर को चिपकाता हुआ बोला—"तुम तो सिगरेट नहीं पीते होगे ?"

मैंने सिर हिला दिया—"नहीं। सिगरेट पीने को पैसा कहाँ से पाऊँगा !"

दामोदर ने एक लम्बी साँस ली और कहा—"नन्हें, विश्वास करो, तुम मुझसे अच्छे हो !"

यह भी भला विश्वास करने की कोई बात थी ? मैं पचास रुपयों को लेकर जीवन को पत्थर के ऊपर से रगड़ता लिये जा रहा हूँ। यह लाखों की खरीद करता है, हजारों की बिक्री करता है। पचास से ज्यादा तो वह अपने उस बंगाली मैनेजर को देता होगा जो उस दूकान पर बैठा हुआ था।

दामोदर ने फिर एक गहरी साँस ली और कहा—"सच जानो

जी नन्हें, मैं इस जीवन से ऊब उठा हूँ और चाहता हूँ किसी तरह इसका अन्त जायहो !"

उसकी दृष्टि में करुणा थी, आवाज में व्यथा। यह क्या चाहता है ? तू भी जीवन से ऊबा हुआ है ? बदल ले मेरी तकदीर से अपनी तकदीर। जब गृहिणी आँसू पोंछ कर बोलेगी—'आज आटा नहीं है, बच्चे भूखे रहेंगे !' तब तू समझेगा कि जिन्दगी से ऊबना किसे कहते हैं। यह ऊबना भी कोई ऊबना है। ज्यादा मीठा खाने पर मीठे से आदमी ऊब ही जाता है। भले आदमी, तुम्हारी तरह मैं भी ऊब पाता !

इसके बाद वे सज्जन आ पहुँचे जिनकी राह देखी जा रही थी। वे कच्छी थे। सिर पर अजीब तरह गठरी की भाँति पगड़ी बाँधते थे। हिन्दी भी विचित्र ढंग की बोलते थे। दोनों में पचास हजार फुट, तीन लाख फुट आदि क्या-क्या लकड़ी की बातें होती रहीं जिन्हें मैं समझ न सका। मैंने लकड़ी कभी खरीदी नहीं, इसलिये यह भी नहीं जानता कि लकड़ी में फुट का हिसाब किस तरह होता है। यह फुट की माप ली कैसे जाती है ? उधर हिसाब-किताब पूरा हो गया। कच्छी महोदय ने जेब से नोटों का एक पुलिन्दा निकाला और दामोदर के हाथ में देकर बोले --"तो मैं तीन-चार दिन में माल उठवा लूँगा।"

वह पुलिन्दा सौ-सौ के नोटों का था। दामोदर के गिनते समय मैं भी उन नोटों की ओर देख रहा था और मन ही मन गिन भी रहा था। पूरे तीस नोट थे तीस नोट, यानी तीन हजार !

दामोदर ने गिनकर इतमीनान कर लिया और नोटों को पत-

लून की जेब में डालता हुआ बोला—"जब जी चाहे उठवा लीजियेगा। माल तो आपका है।"

कच्छी ने कहा—"देखो सेठ, अबकी रुपया देने में कुछ देर होगी। तुम बड़ी जल्दी तकाजा करते हो!"

दामोदर जैसे कुछ चौंकन्ना हुआ; बोला—"नहीं-नहीं, रुपयों में देर न कीजियेगा। आजकल मैं बड़ी झंझट में हूँ।"

कच्छी ने हँसकर कहा—"अरे रहम सीखो सेठ, जल्दी सिर पर सवार होने से कोई लाभ नहीं। आखिर ग्राहकों से ही तुम्हारा इतना बड़ा कारबार है।"

और वह चला गया, ठीक ही तो कहता गया, इतना बड़ा कारबार है। कुछ मजाक थोड़े ही है। जो तीन-तीन हजार अनायास दे जाता है वह बाकी रुपयों के लिये खुशामद भी करता है, रहम भी चाहता है। भाग्य है!

स्टेशन पर 'कोल्ड ड्रिंक' पीकर हमलोग हाजरा-रोड की गोदाम में गये। कोई वैसी दर्शनीय जगह नहीं थी वह। चारों ओर अपार लकड़ियों का ढेर था। एक छोटे-से कमरे में आफिस था। वहाँ टेलीफोन लगा हुआ था। सिर के ऊपर बिजली का पंखा अविश्रान्त चल रहा था। दो मुंशी वहाँ पर बैठे हुए काम कर रहे थे। एक जगह देखा—कुछ बढ़ई बैठे हैं और फर्नीचर बना रहे हैं। एक से एक बढ़िया चीजें बन रही थीं; कुर्सियाँ, आलमारियाँ, शृङ्गार के टेबिल। और भी अनेकानेक चीजें थीं जिन्हें देखते ही अपने ऊपर वितृष्णा और उन चीजों के प्रति लोभ पैदा होता था।

मैंने पूछा—"इन मालों की निकासी कहाँ होती है?"

दामोदर ने कहा—"फर्नीचरवाले हैं, आकर खरीद ले जाते हैं।"

दामोदर के भाग्य पर किसे ईर्ष्या नहीं हो सकती। उसके आने पर वे दोनों मुंशी सिकुड़ गये थे, उनके चेहरे से परेशानी टपक रही थी। वे काम में बड़ी चुस्ती दिखला रहे थे, मानों दामोदर को समझा रहे हों कि आपकी अनुपस्थिति में भी हमलोग इतनी ही तेजी और मुस्तैदी दिखलाते हैं। वहाँ काम करनेवाले दर्जनों कुलियों में भी दामोदर के आने से मानों विशेष स्फूर्ति जागृत हो गई थी। लकड़ियों को पटकने की आवाज बार-बार आकर उस कमरे की शान्ति को भंग करती थी।

दामोदर, तुम्हारे भाग्य का सौवाँ हिस्सा भी अगर मुझे मिला होता तो मैं समझता कि मेरी जिन्दगी सफल हो गई!

३

जिसे पढ़ना कहते हैं उसे न पढ़कर भी दामोदर ने काम की सारी बातें पढ़ी हैं। कितना अतुलित ऐश्वर्य है! यह उसका घर है या किसी राजा का महल? हाथीदाँत के फर्नीचर का हाल सुना था, मगर देखा आज ही, दामोदर के यहाँ! एक से एक चीजें! उसके गुलदस्ते को खरीदने में मेरा एक महीने का वेतन गायब हो जाता। क्या सुख नहीं था? दामोदर, जिन्दगी तेरी है। हमलोग तो मुर्दे हैं और नाली के कीड़े की तरह अपना जीवन-यापन करते हैं।

घर में सब कुछ तो था, मगर स्त्री नहीं थी। मैंने दामोदर से पूछा—"स्त्री?"

बोला—"उसे क्षय हो गया है! वह इटकी-सेनिटोरियम में पड़ी है।"

मन को दुख हुआ। न जाने कितने दिनों से पड़ी है। दामोदर को झंझट बहुत है। इतने-इतने काम छोड़कर जा कैसे सकता है ?

दामोदर ने एक लम्बी साँस ली, और व्यथित होकर बोला—"अभी उसने दो सौ रुपये माँग भेजे थे। मेरे पास है ही नहीं जो भेज सकूँ। न जाने बेचारी कैसे चलाती होगी ?"

यह क्या कहता है ? सिर्फ दो सौ रुपये इसके पास नहीं हैं ? अरे हजारों तो जेब में हैं। वह सामने गोडरेज की तिजोरी रखी है। बिउक गाड़ी है, अपार सम्पत्ति है। सिर्फ दो सौ रुपये यह नहीं भेज सकता ? इन अमीरों की माया समझ में नहीं आती। रहस्य का पर्दा नहीं खुलता।

जब रात हुई और खा-पीकर हमलोग सोने लगे तो दामोदर ने सिगरेट सुलगाकर कहा—"नन्हें, तुम्हें मुझसे ईर्ष्या होती होगी। इतना जो सबकुछ तुम्हारे सामने फैला हुआ है वह कुछ कम नहीं है। इन्हें देखकर किसी को भी ईर्ष्या हो सकती है। तुम समझते होगे कि तुम्हारी क्लर्की फिजूल है और मेरा जीवन सार्थक है। लेकिन विश्वास मानो नन्हें, यह सब कुछ झूठ है, विडम्बना है। मैं जो कुछ कहता हूँ उस पर विश्वास करो। मेरे हाथ से इतने रुपये आते हैं और निकल जाते हैं, जिन्हें देखकर मुझे स्वयं लालच होता है; लेकिन बदनसीबी यही है कि मैं उन रुपयों को छूकर भी कोई उपयोग नहीं कर सकता। यह जो पूँजीवाद तुम देख रहे हो वह सबकुछ धोखे की टट्टी है।'

मैं अवाक् होकर उसकी बातें सुनता रहा। उसकी बातें बड़ी दिलचस्प और रहस्य से परिपूर्ण मालूम हो रही थीं। वह कह रहा था—

"मैंने जरा फैशन-परस्ती सीखी, कुछ जिट से रहना सीखा। उसीका यह सबकुछ प्रसाद है। वह जो बालीगंज की दूकान है, उसमें मेरे केवल आठ हजार रुपये लगे हैं। एक गुजराती व्यापारी हैं। उनके यहाँ माल इतना अधिक है कि मेरे सिर पर पटके रहते हैं। दूकान चलती है; लेकिन खर्च कितना है! डेढ़ सौ तो मकान-भाड़ा, सौ रुपये मैनेजर को देता हूँ जिसमें न वे चोरी करें और न चोरी होने दें। सब मिलाकर उस दूकान में तीन सवा तीन सौ माहवारी खर्च है। मुझे मुनाफा भी बचता है। सुनोगे, कितना बचता है? किसी महीने में सौ, किसी में डेढ़ सौ। ये लकड़ियाँ मेरे परिचित लोग भेजते हैं साख पर। साख इसीलिये कि मेरा बँगला देखा है, मेरी मोटर देखी है, शान-शौकत और रौनक देखकर ही लकड़ियाँ आती हैं। इनसे कुछ निकलता भी है जिनसे मैं मकान-भाड़ा दे सकता हूँ, गाड़ी का इन्सटालमेण्ट दे सकता हूँ, धोबी की धुलाई और नौकरों का खर्च दे सकता हूँ। वह रकम छः सात सौ की होती है प्रतिमास। उस पर भी ऊपर से कर्ज है। बद-नसीबी इतनी है कि मेरी स्त्री—जिससे अभी हाल में विवाह हुआ था और मैं उसे जी-भर कर प्यार भी नहीं कर पाया था—इटकी में पड़ी-पड़ी मर रही है। मेरे पास सौ रुपये भी नहीं कि उसे भेज पाऊँ। यही तो है मेरी अमीरी, शान और शौकत और इतना बड़ा व्यापार! तुम जितना जो लम्बा लिफाफा देखते हो सब धोखे की टट्टी है। अगर यह टट्टी न रहे तो कहीं कोई साख भी न रहे। आज यह सब उठा दूँ तो कल ही हाथ में ठीकरी लेकर भीख माँगता फिरूँ। सबका विश्वास ही मुझ-से उठ जाय। यह जितना जो कुछ चल रहा है—इस तरह लस्टम-पस्टम चल रहा है जिसकी क्षण भर की भी स्थिरता नहीं कही जा सकती। अभी

एक पल मैं भिखारी हो सकता हूँ। यहाँ जीवन का आमोद-प्रमोद आवे कहाँ से ? आसूदगी और आराम हो किसे ? उसपर भी मैं पूँजीपति हूँ। उस दिन लकड़ी के गोदाम में हड़ताल हो गई। लोगों ने कहा कि अत्याचारी है, मेहनत की मजदूरी कम देता है। वहाँ के उन कुलियों को क्या पता कि मैं उन लोगों से भी ज्यादा भाग्यहीन हूँ। उन्हें 'इन्कलाब जिन्दाबाद' करने की धुन थी, मुझे पूँजीपति घोषित करके नीचा दिखलाना था। अपनी हेठी कोई भी नहीं कराना चाहता। मैंने पुलिस की सहायता से कितनों को जेल भिजवाया। अब वहाँ शान्ति है।"

मैंने गम्भीरतापूर्वक कहा—"तुम्हारी तो विचित्र ही परिस्थिति है। मैंने तो कुछ दूसरा ही समझा था।"

दामोदर का चेहरा करुण हो गया था। वह विकल मालूम होता था। सचमुच उसके हृदय में तीव्र वेदना थी। उसने कहा—"दूसरों को ठीक-ठीक मालूम नहीं होने देने के लिये ही तो यह प्रपंच है। इतना बढ़ा-चढ़ाकर अपनेको न दिखलाऊँ तो व्यापारियों के बीच से मेरी साख ही उखड़ जाय। ये जितने लोग लकड़ियाँ भेजते हैं वह सब बन्द हो जाय। बैंकवाले या व्यापारी लोग कर्जा देना या हुण्डी लेना ही रोक दें। नन्हें, सब जगह यही पोलखाना चल रहा है। जिसकी तीन लाख की स्थिति है वह पचास लाख का कारबार और लेन-देन कर रहा है। लोग समझते हैं कि कितना बड़ा पूँजीपति है। अरे, पूँजीपति तो वह हो सकता है, जो माल का 'प्रोडक्शन' करता है। हमारे देश में वह कहाँ! यहाँ तो सिर्फ खरीद-बिक्री का सिल-सिला है।"

वास्तव में दामोदर की स्थिति करुणाजनक थी। मुझे ममता आ गई। अपनी वही पचास रुपयों की नौकरी अच्छी लगने लगी।

दामोदर ने कहा—"मैं सदा अपने हिसाब-किताब को अधिक बढ़ाकर दिखलाता हूँ ताकि इन्कमटैक्स अधिक देने से लोग समझेंगे कि इसका कारबार बहुत ज्यादा है और रुपये भी इसके पास बहुत हैं। इधर रुपयों का यह हाल है कि इस व्यापारी को रुपयों की जरूरत होती है तो उसके रुपये देकर काम चलाता हूँ और जब वह माँगता है तो उसे इधर-उधर करके दे देता हूँ। यही तो मेरा इतना बड़ा कारबार है। यही वह मेरी अमीरी है जिसे पाने के लिये लोग तरसते रहते हैं!"

वह बड़ी देर तक जागता रहा, फिर सो गया।

४

दामोदर के साथ मैं कई दिनों तक रहा। आते समय वह स्टेशन पर पहुँचाने भी आया था। उस समय उसने कहा था कि चिट्ठी-पत्री बराबर भेजूँगा; लेकिन सालभर से ऊपर हो गया, आज तक कोई चिट्ठी नहीं आई।

आजकल लड़ाई छिड़ जाने के कारण तमाम चीजें महँगी हो गई हैं। शायद वह इन दिनों पहले से ज्यादा कमा रहा होगा।

अब जब कभी मैं दामोदर को याद करता हूँ तो बाल्यकाल की एक घटना आपसे आप याद हो आती है। उसके पिता को डायबेटीज का रोग था। चीनी की बनी चीज वे नहीं खाते थे। उनके लिये सेकरीन से चीजें बनाई जाती थीं। मैं जब उनके यहाँ जाता था तो गिलास में पानी भरकर राई बराबर सेकरीन मिलाकर शरबत

बनाया और पिया करता था। वे दिन ही और थे। एक दिन मीठे के लोभ में दामोदर ने अपने मुँह में एक मुट्ठी सेकरीन डाल ली। उसका मुँह विवर्ण हो गया। थू-थू!···कितना कड़वा था, जहर के समान! जुबान का कड़वापान दिन भर दूर नहीं हुआ।

हाँ, यह घटना मुझे इसलिये याद आ जाती है कि आज भी तो वह सेकरीन ही खाये जा रहा है। काश, कि आज वह इसे थूक भी सकता!

आबादी

पंडित रुद्रात्त मिश्र जी कुर्सी पर आसीन होकर बोले— "भाइयो. दुनिया की हालत देखकर मैं बहुत ही उदास हो जाता हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि इसका क्या उपचार हो। आपलोगों में से कोई यदि 'ब्रिज' खेलना छोड़कर दुनिया का सुधार कर सकते हों तो वह मेरे सामने आकर कहें— "

लोग पंडितजी का मुँह ताकने लगे। मैंने कहा— "पंडितजी. अव्वल तो आपकी बात हमारी समझ में आई नहीं, दूसरे हमलोग बेवकूफ आदमी ठहरे; दुनिया का सुधार क्या करें? आप हैं. सुभाष बाबू हैं, नेहरू जी हैं, आपलोग जो चाहें सो अभी हो जाय।"

पंडितजी प्रसन्नता के साथ कुर्सी पर अकड़ गये: बोले— "यह तुम्हारा कहना बहुत ही वाजिब है; लेकिन तुमलोगों को भी नौकरी-चाकरी और 'ब्रिज' से ध्यान हटाकर दुनिया के लिये कुछ जरूर करना चाहिए। अब अकेले हमलोगों से क्या होगा? आज की

दुनिया में अच्छाई क्यों नहीं फैलती ? जानते हो, इसका कारण क्या है ?— तुम नहीं जानते होगे। मुझे विश्वास है कि तुम नहीं जानते होगे ; लेकिन मैं जानता हूँ। कान खोलकर सुनो, मैं तुम्हें बतलाता हूँ। सुनो, दुनिया में अच्छाई नहीं फैलती, इसका कारण यही है कि संसार की आबादी बहुत अधिक बढ़ गई है। तुम्हें इस पर विश्वास न हो, तो मैं तुम्हें सारे संसार की जनसंख्या ही बतलाये देता हूँ ; मैंने रट-रटकर सब याद कर लिया है। सुनो, बेलजियम की ७६००००० , मोरक्को की ५०००००० , वेनेज्युला की ३०२७०००, चेकोस्लोवाकिया की १४३००००० , जर्मनी की ६३००००००, ग्रेटब्रिटेन—ग्रेटब्रिटेन—ग्रेट—अच्छा, बाकी कल सुन लोगे। मुझे सब याद है, सब मेरी जुबान पर है, लेकिन अभी मुँह से नहीं निकलता। खैर, मोटामोटी हिसाब से दुनिया में १८५०००००० औरत-मर्द मिलाकर भर गये हैं। अब सबसे बड़ा सवाल मेरे सामने यही है कि दुनिया की इस इतनी बड़ी आबादी को घटाया कैसे जाय ?··· तुम लोग भी यहाँ चार-पाँच आदमी बैठे हो ; बोलो, इतने आदमियों में से कौन ऐसा है जो दुनिया की आबादी घटा सकता है ? अगर कोई हो तो आकर मेरे सामने खड़ा हो।"

सिद्धनाथ ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—"हमलोगों में इतना साहसी कोई भी नहीं है। यह काम सिर्फ आप ही से हो सकता है।"

"जरूर हो सकता है।"—पंडितजी पुनः बड़ी शान के साथ कुर्सी पर अकड़ गये और अपनी घुटी हुई मूँछों पर हाथ फेरकर कहने लगे। "भाइयो, मैंने दुनिया की आबादी घटाकर संसार को यह दिखला भी दिया कि पंडित रुद्राक्ष मिश्र में कितनी शक्ति है,

कैसी अलौकिक प्रतिभा है, कैसा विश्व-विश्रुत चमत्कार है। आपलोग पूछेंगे कि आपने दुनिया की आबादी घटाई कैसे, मैं बतलाऊँगा कि जब मैं म्युनिसिपैलिटी का चेयरमैन हुआ उसी समय से दुनिया की आबादी घटने लगी।'''

रामदत्त खिसककर आगे बढ़ आया और तीव्र स्वर में बोल उठा— "यह सरासर झूठ है। आप कभी भी चेयरमैन नहीं हुए। कौन कहता है कि आप म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन हो गये ?"

पंडितजी ने कहा— "खैर, अगर आज चेयरमैन नहीं हुआ तो फिर कभी आगे हो जाऊँगा। इसके लिये घबराने या शोर मचाने की कोई बात नहीं। हो सकता है, भविष्य में मैं चेयरमैन तो क्या, किसी चेयरमैन का दादा हो जाऊँ। लेकिन आप पूछेंगे कि चेयरमैन की क्या हस्ती है जो आबादी को घटा दे, तो मैं गर्वपूर्वक अपने-आपको पेश करूँगा और कहूँगा कि मैंने चेयरमैन होकर दुनिया की आबादी आखिर घटाकर ही छोड़ी। इसका बड़ा मजेदार किस्सा है, आपलोग ध्यान देकर सुनिये—

उस दिन रात को जैसे ही आँख लगी कि देखता हूँ मैं म्युनिसिपैलिटी का चेयरमैन हो गया हूँ। कुछ पूछो मत कि मुझे और मेरी पत्नी देवी को कितनी खुशी थी। कभी मेहतर सवाल करता था, कभी ठेकेदार आकर साष्टांग दंडवत् करता था, कभी प्राइमरी स्कूल के गुरुजी लोग मधुरिमा-मिश्रित करुण कंठ से मेरी स्तुति करते थे। दरवाजे पर कूड़ा-गाड़ी से लेकर सड़क कूटनेवाली इंजिनगाड़ियों तक की भीड़ लगी रहती थी। जिसकी ओर देख लेता वही 'जी हुजूर' कहकर सिर झुका लेता। इतना बड़ा आदमी मैं

कभी नहीं हुआ था। इस कारण बड़ी खुशी मालूम होती थी। मैं 'चेयरमैन' कहलाता था और लोगों को हुक्म दिया था कि मेरी पत्नी-देवी को 'चेयरवोमैन' कहा करो। कुछ घूँस-घास भी मिल जाया करता था जिससे मेरा काफी काम चलता। लेकिन इस पर मेरी पत्नीदेवी झुँझलाती थीं, कहती थीं— "पहले तुम कहते थे कि जब मैं बड़ा आदमी हो जाऊँगा तो बड़े-बड़े काम करूँगा; लेकिन देखती हूँ कि तुम बड़े होकर भी छोटा काम करते हो।"

इस पर मैं गुर्राता, बुरा-भला कहता—"सभी बड़े लोग छोटा काम करते हैं!" मैं अपनी श्रीमतीजी से दावे के साथ कहता— "अगर तुम किसी भी बड़े आदमी को बेलाग बतला दो, तो मैं पाँच सौ रुपये नकद इनाम दूँ!"

खैर, यह सब तो मियाँ-बीबी की बातें हैं, होती ही रहती हैं। मेरे सिर पर उन दिनों काम का इतना दबाव था कि सिर उठाना भी मुश्किल था। जो लोग पहले मुझसे सीधे मुँह बात भी नहीं करते थे अब वे ही लोग मेरा मुँह ताकने लगे। शिकायत और सिफारिशों के मारे तो नाक में दम था! अहमद की नाली मुहम्मद के घर में घुसी जाती थी तो किसी के दरवाजे की सड़क ने पत्थर के दाँत निपोर दिये थे। किसी के भतीजे घोड़ा-डाक्टर होकर आये थे, किसी का साला स्कूल की नौकरी चाहता था। कोई सज्जन बिना दरख्वास्त के ही अपने घर का दरवाजा बनवा लेते थे, कोई बम्पुलिस बनाने का ठेका माँगता था। नाक में दम हो गया, नाक में दम! जब देखो तब काम, जब सुनो तब काम! इतना काम तो मैंने इस जिन्दगी में कभी नहीं किया था और न अगले जन्म में इतना काम सँभाल सकूँगा।

इतना काम क्यों है ? मैंने इस पर विचार करना शुरू किया। आखिर पूरे तीन दिन तक लगातार सोचते रहने के बाद मुझे पता लगा कि संसार में इतनी अशान्ति, इतना उपद्रव, इतना स्वार्थ और इतना संघर्ष, इसलिये है कि दुनिया की आबादी बहुत बढ़ गई है। यदि आबादी बढ़ी न होती तो मुझे इतना काम नहीं करना पड़ता। मैंने विचार किया कि आबादी घटाई जाय, फिर मेरा भी काम खुद-बखुद कम हो जायगा।

अब सवाल आया—आबादी घटाई कैसे जाय ? इस विषय की एक मार्मिक कविता लिखकर मैंने 'सरस्वती' में छपाई। कुछ नाटक और गजलें भी लिखीं। लेकिन इसका प्रभाव पड़ना तो दूर रहा ; लोग इस बात का प्रश्न उपस्थित करने लगे कि क्या एकांकी नाटक और गजलों का साहित्य में कोई स्थान भी है ? भई, गजब का सवाल है। नाटक में लिखा हुआ है कि दुनिया की आबादी घटाओ, जल्दी घटाओ, मगर आबादी घटाने के बदले लोग पूछ रहे हैं कि एकांकी नाटकों का स्थान क्या है ? इसीसे कहा गया है कि लोग साँप छोड़कर लकीर पीटते हैं। मैंने मन में कहा—अब नाटक-फाटक छोड़ो, कोई प्रैक्टिकल काम करो। इसके लिये मैंने निश्चय किया कि मेरे अधीन जितने भी प्राइमरी स्कूल हैं सबमें बर्थकंट्रोल की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाय। एक प्रोफेसर भी नियुक्त कर लिया जो तमाम स्कूलों में घूम-घूम कर हफ्तों इस विषय का लेक्चर दिया करता था। कुछ स्कूलों में 'कोकशास्त्र' पढ़ाने की व्यवस्था भी करा दी गई, क्योंकि उसमें संतति-निग्रह के कई प्रयोग लिखे हुए थे।

लेकिन इससे मेरा काम घटा तो क्या, और भी वावेला उठकर

खड़ा हो गया। हर गली के मोड़ पर सभाएँ होने लगीं कि चेयरमैन साहब तो हमारे लड़के-लड़कियों को खराब किये जाते हैं! मैं सबको समझाता कि ऐसी मेरी आदत नहीं, मैं उनलोगों की उन्नति चाहता हूँ। मेरा असली मकसद दुनिया की आबादी को घटाना है; इसलिये मैं जी-जान से वही कर रहा हूँ।

अभिभावक इससे भी संतुष्ट नहीं हुए। स्कूलों में दिन के समय चिमगादड़ उड़ाने की व्यवस्था की गई। मास्टरों को हड़ताल करने के लिये मुस्तैद किया गया और अपने लड़कों को लोग नाम कटा-कटा कर ले गये। जब स्कूल बन्द होने की नौबत आई तो मैंने कहा— बच्चे तो बच्चा पैदा करते ही नहीं, इसलिये यह सारी पढ़ाई इम्प्रैक्टिकल है, गलत है, निर्मूल है। और तब मैंने निश्चय किया कि जो लोग बच्चा पैदा करते हैं उन्हीं के बीच मेरा आन्दोलन चलाया जायगा और उन्हें अच्छी तरह बाध्य किया जायगा कि वे आबादी बढ़ाकर मुझे झंझट में न डालें। इसपर मैंने काफी तौर से अध्ययन करने का इरादा किया। निउमैन के यहाँ से किताबें मँगा लीं और एक सुन्दर आलमारी बनवाकर उनमें किताबों को रख दिया। उन पुस्तकों को पढ़ने का सुयोग तो आज तक नहीं मिला; लेकिन मैंने अपने प्रेक्टिकल अध्ययन से देख लिया कि धनी विद्वानों के उतनी सन्तानें होती नहीं, ये गरीब-गुरबा लोग ही सबसे ज्यादा लड़के पैदा करके खड़े कर देते हैं। इसके लिये मैंने बड़ा सुन्दर नुस्खा निकाला। मेरा प्रयोग ऐसा सफल हुआ कि म्युनिसिपैलिटी की आमदनी लाखों बढ़ गई और सारी प्रजा सन्नाटे में आ गई। मेरी कानूनी व्यवस्था इस प्रकार थी--

धारा (१)—जिस स्त्री के पेट में गर्भ हो गया हो उसको या उसके पति को या उसके वारिसान कायम मोकामियान को मुबलिग एक रुपये पाँच पैसे माहवारी के हिसाब से टैक्स देना पड़ेगा।

(क) अगर सात महीने में ही बच्चा पैदा हो गया तो भी नौ महीने का पूरा टैक्स अदा करना पड़ेगा।

(ख) अगर बीच में ही गर्भपात होकर जीवित लड़का नहीं जनम सका तो उतने महीने का टैक्स लेकर बाकी माफ कर दिया जायगा।

(ग) यदि गर्भ छिपा लिया तो बच्चा पैदा होने के समय नौ महीने का टैक्स मुबलिग दस रुपये जुर्माने के समेत वसूल किया जायगा।

(घ) अगर प्रसव के समय बच्चा मर गया तो जच्चे से टैक्स लिया जायगा और अगर जच्चा मर गई तो बच्चे से टैक्स लिया जायगा।

(ङ) अगर कोई टैक्स देने में हीला-हवाला करे तो म्युनिसिपैलिटी को अधिकार होगा कि उसकी जमीन-जायदाद या गाय-भैंस बकरी-कुत्ता आदि जब्त करके नीलाम करा दे।

भाइयो, मैंने कानून के जाल से लोगों को इस प्रकार बाध्य किया कि लोगो का बच्चा पैदा करना ही बन्द हो गया। इतनी बड़ी अक्ल सिवा रुद्रात्त मिश्र के और कहीं देखी नहीं गई। नमूने के लिये थोड़ा-सा कानून और सुन लीजिये—

धारा (२)—जिस औरत या मर्द के लड़का पैदा हुआ हो उसे चाहिये कि वह फौरन से भी जल्दी म्युनिसिपैलिटी में मुबलिग

दस रुपये दस पैसे सलामी दाखिल करे और जब तक लड़का बालिग नहीं हो जाता तब तक मुबलिग तीन रुपये तीन पैसे नकद कम्पनी चलन हाल तिमाही टैक्स दिया करे।

(क) अगर लड़की पैदा हुई तो तिमाही टैक्स बालिग होने तक वही लगेगा ; लेकिन सलामी की रकम दुगनी दाखिल करनी पड़ेगी ; क्योंकि म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन का खयाल है कि लड़की ही आबादी बढ़ाने में मदद करती है।

(ख) अगर सलामी की रकम तुरंत दाखिल नहीं हुई तो बाप या माँ मजकूर को ज्यादा से ज्यादा तीन दिन का वक्त मिल सकता है।

(ग) अगर टैक्स देनेवाला टैक्स देकर रसीद लेना भूल गया तो म्युनिसिपैलिटी अपने कर्मचारी के ऊपर मुकदमा चलाने के बदले यही कोशिश करेगी कि रेटपेयर से ही दुबारा टैक्स वसूल किया जाय।

(घ) अगर एक साथ ही दो या उससे भी अधिक बच्चे पैदा हुए, तो भी टैक्स और सलामी की रकम बच्चों की गिनती के अनुसार ही देनी पड़गी।

इसी तरह के मैंने दो-चार और भी कानून बनाये। इन कानूनों के मारे लोगों को बच्चा पैदा करना मुश्किल था। चारों ओर मेरी बदनामी फैलने लगी। जहाँ देखो वहीं सभा हो रही है और पंडित रुद्र त्त मिश्र को गालियाँ सुनाई जा रही हैं। लोगों ने जलूस निकाले, काले झंडों का प्रदर्शन किया ; लेकिन आखिर मेरा नाम रुद्रात्त मिश्र है, मैंने कभी नहीं माना। उधर 'स्टेट्समैन' और 'सर्चलाइट' में मेरी

शिकायतें छपती थीं, इधर मैं रोज इसी हिकमत में लगा रहता था कि आबादी कैसे घटे। पहले तो लोगों ने खूब गालियाँ दीं, लानत-मलामत की, लेकिन पीछे बड़ा गड़बड़ हो गया। मेरी म्युनिसिपैलिटी की सालाना बीस लाख की आमदनी आधी हो गई! जिनके घर गर्भ रहता वे गर्भ छिपा लेते और जब बच्चा पैदा करने का समय आता तब म्युनिसिपैलिटी के बाहर चले जाते और वहीं पैदा करके खुशी-खुशी घर चले आते। इससे उन्हें गर्भ और सलामी टैक्स नहीं देना पड़ता था। म्युनिसिपैलिटी को इससे काफी घाटा होने लगा और मेरी बदनामी भी बहुत ज्यादा बढ़ गई। सुनने में आया कि कुछ उत्साही नौजवान लोग मुझे मारने के लिये बम वगैरह भी बना रहे हैं। इस पर तो मेरी पत्नीदेवी गले पड़ गईं कि चाहे जैसे हो इस टैक्स को मंसूख ही कर दो। क्या करता, लाचार होकर मैंने एक सभा की जिसमें घोषणा करके सुना दिया कि ये सारे टैक्स उठा दिये। अहा, फिर क्या पूछना है; मेरी जितनी खातिर हुई उतनी कार्लाइल की भी नहीं हुई होगी। तिरपन धोबियों के रथ पर मेरा जलूस निकाला गया, हजारों ब्राह्मणों ने मुझे नारियल-सुपारी दी। मेरी स्तुति के लिये कविता करने को आगरा, बनारस और लखनऊ से कवि लोग बुलाये गये। बड़ा चकल्लस रहा। उत्सव और पार्टियों के मारे मेरा बुरा हाल था। लेकिन चाहे जो भी हो, मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो पार्टियों और मानपत्रों के पीछे अपने कर्तव्य को भूल जाते हैं। मेरा कर्तव्य मेरी पीठ पर खड़ा होकर मुझे पुकार रहा था—सावधान! रुद्राक्ष मिश्र, इन पार्टियों के पीछे तुम अपने कर्तव्य को न भूल जाओ। याद रखो, तुम्हारा प्रधान कर्तव्य है कि

संसार की आबादी बढ़ने मत दो। अगर आबादी बढ़ी तो तुम्हारे सिर कलंक का टीका लगा। चेत जाओ ! सावधान हो जाओ !!

आखिर मैं तीन-चार महीने के अन्दर-अन्दर चेत गया। म्युनिसि-पैलिटी में कितने ही डोम थे जो बरसात के दिनों में कुत्ते मारा करते थे। मैंने उनलोगों को बुलाया और उन्हें लेक्चर देकर अच्छी तरह समझाया कि हे भाई डोम लोगो, आपको अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अच्छा ज्ञान होगा, आप यह भी जानते होंगे कि आबादी बढ़ जाने के कारण दुनिया में कितनी गड़बड़ी मची हुई है। इधर जापान चीन हावी हो रहे हैं। ऐसी हालत में हम लोगों को दुनिया की आबादी को घटाकर दिखला देना है कि हम हरगिज नहीं चाहते कि हमारी म्युनिसिपैलिटी में आबादी बढ़े। इसके लिये आपलोगों को सहायता देनी होगी, मदद करनी पड़ेगी, सब कुछ आप ही लोगों को करना पड़ेगा। मेरे प्यारे डोम भाइयो, आजतक आप लोगों ने कुत्तों की आबादी घटाई हैं; लेकिन भाइयों, विचार करके देखिये तो आपको पता चलेगा कि कुत्तों की आबादी बढ़ने से संसार में इतना अत्याचार, इतना अनाचार और इतना छल-प्रपंच नहीं बढ़ता। कुत्तों की बढ़ती से स्वार्थ का ऐसा प्रबल संघर्ष नहीं होता, लोग एक दूसरे का गला काटने और माल हड़पने के लिये तैयार नहीं होते, आप सोच कर देख लीजिये, आदमी कुत्तों से भी ज्यादा खराब है। इसलिये मेरे प्यारे डोम भाइयो, आज से आपका कर्तव्य होता है कि आदमियों की आबादी को घटाने के लिये जी-जान से जुट जाइये। जिसके गले में चमड़े की पट्टी बंधी हो उससे कुछ न बोलिये और जिसे पट्टी-वट्टी कुछ न हो उसे बिना मारे न छोड़िये। संसार में

शान्ति और सुव्यवस्था का यही तरीका है। मेरे इस लेक्चर का ऐसा प्रभाव पड़ा कि डोम लोग फौरन उठकर खड़े हो गये। उन्हें यह भी आश्वासन दिया कि वे जितनी आबादी घटायेंगे उन्हें फी आदमी एक रुपये के हिसाब से म्युनिसिपैलिटी की ओर से पारिश्रमिक या पुरस्कार मिला करेगा। दूसरे ही दिन से आदमियों की आबादी घटने लगी। जहाँ सड़क पर कोई आदमी पाया गया कि दे लट्ठ दे लट्ठ! और बस फिर बंटाढार!·····"

× × ×

इस पर सिद्धनाथ बाबू ने रुद्राक्ष मिश्र से पूछा—"तब तो आपकी बहुत बदनामी हुई होगी?"

रुद्राक्ष मिश्र ने कहा—"हाँ, बदनामी तो जरूर फैलती; लेकिन इतने ही में मेरी नींद टूट गई तो देखता हूँ कि कहीं भी कुछ नहीं है।····· और अब यहाँ देखता हूँ कि पानी का बरसना भी बन्द हो गया है, इसलिये मेरा चला जाना भी वाजिब है! नमस्ते!"

बुढ़िया गुलाबी

तारापुर एकबारगी छोटा गाँव नहीं। कई सौ घरों की बस्ती है। गाँव के बीचोबीच से होकर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की एक सड़क निकली है, जिसपर जमींदार का सत्रह वर्ष का लड़का खूब घण्टी बजाकर साइकिल चलाया करता है। कुछ बनियों और हलवाइयों की दूकानें भी गाँव के गौरव का प्रमाण दिया करती हैं। वहाँ एक डाकखाना भी है, जिसका लाल रङ्ग का लेटरबक्स उस घर के सामने एक कदम्ब के पेड़ के धड़

में टँगा रहता है। डाकखाने के अन्दर चंदेल सिरवाले डाक-मुंशी साहब कुछ लड़कों को विद्यादान देने का भी व्यवसाय किया करते हैं। पोस्ट-आफिस के बारामदे में खड़े होकर कोई भी गुलाबी का घर देख सकता है। फूस के छप्पर का छोटा-सा घर है। कुम्हड़े और कद्दू की लताएँ अपने बड़े-बड़े पत्तों को लेकर छप्पर के ऊपर बड़ी शान से भर गयी हैं। घर के भीतर गुलाबी रहती है। नाम ही केवल उसका गुलाबी है; किसी भी समय उसके चेहरे पर गुलाबी रङ्ग आया होगा, इसका अनुमान जरा कठिन है। बूढ़ी हो गयी है, मगर आज भी उसके कानों के चाँदीवाले कर्णफूल जवानी की रसिकता और सुरुचि के इतिहास हैं। बीस वर्ष तो उसे विधवा हुए हो गये, आज वह पचास की है। साँवले शरीर पर सिकुड़नें पड़ गयी हैं और जिन आँखों से अब तक दुनिया देख आयी, वे ज्योतिहीन हो चुकी हैं। जब वह नीम की लकड़ी की लाठी लेकर गाँव में निकलती है, तो सारे गाँव की महिलाएँ उसे अपने घर आकर बैठने का निमन्त्रण देती हैं। निमन्त्रण की रक्षा करने का उसे जितना शौक नहीं, उससे अधिक लालसा रहती है उसे अपनी बात और अपना अनुभव सुनाने की। गाँव के सबको वह अपना समझती है। उस के लिए कोई गैर नहीं। यदि उसे किसी चीज की जरूरत हुई, तो वह गाँव की किसी भी महिला से निःसङ्कोच माँग सकती है। इसपर अगर कोई बहाना भी बना देती, तो वह सहज भाव से उसपर विश्वास कर लेती है। किसी के प्रति न उसके मन में कोई द्वेष है और न उलाहना। अगर एक क्षण में वह किसी पर क्रोध कर सकती है, तो दूसरे ही क्षण उसे प्यार भी कर सकती है। उसके अतिरिक्त उसके घर में और कोई नहीं।

कभी किसी समय उसका एक देवर था, जो जर्मनी की लड़ाई में गया और फिर नहीं लौटा। तब से गुलाबी अपने घर में अकेली रहती है। अमीरी नाम की जो चीज है, वह शहर के सेठों में ही देखी जा सकती है, गाँव के जमींदार भी गले तक कर्ज में डूबे हुए होते हैं। फिर गाँववालों की इस किंवदन्ती पर विश्वास कर लेना भी जरा कठिन है कि बुढ़िया के पास कुछ हजार रुपये हैं, जिन्हें वह झोपड़ी में गाड़कर रखती है। इस जनश्रुति के कारण उसे गाँव के नासमझ लोगों का थोड़ा-सा आदर मिलता है और नहीं तो उसके पास वैसा कुछ नहीं है। मिट्टी की हँडिया में एक वक्त भात बनाती है और दोनों वक्त खाती है। एक फूल की थाली है, दो-तीन एल्यूमुनियम के कटोरे, पीतल का एक-एक गिलास और लोटा। घर में मिट्टी के बने हुए कई विशाल घड़े हैं, जिनमें वह चना, खेसारी, गेहूँ, जौ आदि रखा करती है।

संसार में यदि कहीं उसके प्यार का पक्षपात देखा गया तो उसकी अपनी गाय पर। चाकलेट रंग की गाय है और उसके सिर पर कुछ-कुछ सफेद धब्बे पड़े हुए हैं। वह एक जून डेढ़ सेर दूध देती है; लेकिन गुलाबी को दूध की कोई लालसा ही नहीं। वह एक लालाजी के यहाँ दूध बेच आती है। उसके पास अपने धेले-धेले का हिसाब है और व्यर्थ में वह एक कौड़ी का भी अपव्यय करना नहीं चाहती। कभी-कभी किसी के बहुत अनुनय-विनय पर वह पन्द्रह-बीस रुपये ऋण दे देती है, लेकिन रुपये में एक आना माहवार से एक छदाम भी कम सूद लेना नहीं चाहती और न सूद में एक कौड़ी भी छोड़ना जानती है। सूद छोड़ने की प्रार्थना करनेवालों को वह एक महान पातकी समझती है। वह इस बात से सर्वदा निःशङ्क रहती है कि ऐसे आदमी को मरने पर भी

कहीं ठौर नहीं मिल सकता। उसकी समझ से भगवान भी सूद लेने का वैसा ही समर्थन करते हैं, जैसा वह स्वयं किया करती है। भगवान् उसके विचारों के एक रूप-मात्र हैं। जिसे वह अच्छा मानती है, उसके भगवान् भी उसी को अच्छा कहते हैं। उसके विचारों के बाहर कहीं भी भगवान् का कोई अस्तित्व नहीं है। और बुढ़िया गुलाबी संसार में रहकर भी दुनिया से कितनी पृथक है, जिसे वह खुद नहीं जानती। जिस विशाल देश में वह रहती है, उस देश का नाम भारतवर्ष है, इसका भी उसे पता नहीं। यहाँ कैसे कानून बनते हैं और किस तरह काम में लाये जाते हैं, इसे उसने कभी नहीं सोचा और न जानने की कोई जरूरत ही समझी। अंगरेज-मात्र को वह राजा जानती है और पुलिस को ही कानून। एक बार उसके पड़ोस में तहकीकात के लिए पुलिस आयी हुई थी, उससे बुढ़िया ऐसी डरी कि दिनभर थर-थर काँपती रही और रात बीते तक घर के बाहर नहीं निकली। उसके लिए अपना वह गाँव ही एक विशाल देश है और उस गाँव की अत्यन्त सामान्य घटनाएँ ही अलौकिक। छोटी-से-छोटी घटना को लेकर वह महीनों तक उसकी आलोचना करती है, सम्मति देती और सुनती है और उसी में अपना सुख-दुख, इच्छा-अनिच्छा आदि मिलाकर रखती है। इससे अधिक की उसे कोई जरूरत ही नहीं।

एक दिन उसकी वह गाय न जाने कहाँ खो गयी। ग्वाले से मालूम हुआ तो वह बहुत बिगड़ी। उसपर अपने शब्दकोष के समस्त कटु-वाक्यों का वर्षण करके और उसे नितान्त अविश्वासी और परले सिरे का हरामजादा घोषित करती हुई अपनी लाठी लेकर स्वयं गाय को ढूँढ़ने निकली। साँझ बीत रही थी। मिटता हुआ प्रकाश था और उमड़ता

हुआ अन्धकार। खेतों में झींगुर बोल रहे थे। पाँच-छः तारे आकाश में भटक आये थे, जिन्हें बुढ़िया ने नहीं देखा। उसे अपनी गाय की धुन थी और उसका कहीं पता न था। वह बड़बड़ा रही थी, जी भरकर ग्वाले और गाय की कम्बख्ती को कोस रही थी।

'चाची !··· ओ गुलाबी चाची !'—दूर से पुकारी हुई यह आवाज क्षीण (पर स्पष्ट) सुनी गयी।

गुलाबी रुकी। धरती पर लाठी टेक दी और उसे दोनों हाथ से पकड़कर बोली—'कौन है ?'

'तुम्हारी गाय मेरे पास है !'

गुलाबी ने पहचान लिया। वह छबिया लपकी आ रही थी। गाय के सुसंवाद ने उसके चेहरे को खुशी से चमका दिया। प्रसन्नता के उद्रेक में बोली—'मर मुँहझौंसी, मैं कब से हैरान हो रही हूँ और गाय को तू अपने यहाँ बाँध आयी। तेरी शैतानी का अन्त नहीं। यहाँ मैं कब से गाय-गाय करती फिर रही हूँ। वह थी कहाँ ?'

छबिया ने कहा—'अब तुम्हें क्या बतलाऊँ; मामा की बाड़ी में घुस गयी थी। मटर की सारी खेती को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अगर मामा जान पाते, तो काँजी-हौस ले जाते। खैर कहो कि मेरी आँख पड़ गयी और मैंने चुपके से बाँध दिया।'

'बेटी, तुझे भगवान जुग-जुग जुड़ावें !' गुलाबी उसे असीस देती हुई बोली—तेरे मामा कहेंगे तो मैं मटर का दाम दे दूँगी, लेकिन मेरी गैया को काँजी-हौस न भेजना।··· अरे जानवर है बेटी, उसे क्या समझ कि किसका खेत है कि किसकी बारी है। जब घुस ही गयी तो उसका क्या उपाय !··· उस निपूते ग्वाले से तो मैं हार मान गयी।

लाख बार चेता दिया, जरा गाय पर निगाह रखो कि कहीं बहक न जाय, किसी का खेत न खा जाय ; लेकिन मुटमर्दों के मारे वह कुछ सुनता है। इस गाँव में सबकी एक हालत है, सबको चर्बी चढ़ गयी है। कोई ऐसा ग्वाला नहीं, जिसको गाय सौंप कर आदमी निश्चिन्त हो सके।''' राम-राम, बेचारे के सारे खेत बरबाद हो गये होंगे !'

छबिया बोली—'देखो चाची, मैं एक बात कहती हूँ। मामा को इसकी जरा भी खबर न होने पावे। वे अगर सुन पाये, तो चिरौरी-विनती एक न सुनेंगे। सीधे गाय को काँजी-हौस ले जायँगे और पुलिस-में रपट कर देंगे। वे एक टिन्नी आदमी हैं ; जमींदार को तो कुछ समझते ही नहीं।'

गुलाबी सिहर उठी। छबिया का कहना झूठ नहीं था। उसका हाथ पकड़ कर बोली—'बेटी, भगवान-ठाकुरजी तेरा भला करेंगे। चल मेरी गैया दे दे।'

छबिया ने हँसते हुए कहा—'तेरी गैया मैं यहाँ कहाँ से दूँ ? आँचल में बाँध कर थोड़े ही लायी हूँ। जाकर अपने घर में देखो चाची, तुम्हारी गाय अपने खूँटे पर पागुर कर रही होगी। तुम्हारा ग्वाला आया था, मैंने उसीसे भेज कर बँधवा दिया है।'

२

छबिया उन लड़कियों में थी, जिन्हें संसार को सूना मान कर चलने में ही कल्याण है। लेकिन जब सामने एक विचित्र और आकर्षक संसार है और यहाँ एकबारगी सूनापन भी नहीं तो आँखों को फोड़कर, कान को बहरा बना कर और दिल को माथी समझ कर रखना जरा कठिन है। राजपूत की लड़की थी। मा-बाप मर गये थे। अपने मामा के

यहाँ के टुकड़ों पर पलकर बड़ी हुई। जब वह बारह वर्ष की थी, तब एक बार अपने वृद्ध पति के साथ ससुराल गयी थी ; लेकिन पाँच महीने के अन्दर ही विधवा होकर फिर अपने मामा के यहाँ लौट आयी। पहले उसे कुछ भी मालूम नहीं होता था ; मगर अब वह उन्नीस वर्ष की थी और अब उसे शरद के उड़ते हुए उजले मेघ भले लगते थे, फागुन की हवा में सिहर जाती थी, चैत के फूलों को देख मन में न जाने क्या-क्या आता था और बरसात की कजरारी रात में गर्जन करनेवाले मेघ उसे भयभीत बना देते थे। नितान्त सूनापन जितना कुछ नहीं है उतना ही वह बहुत कुछ है। उसकी उपेक्षा करके भी जीया जा सकता है, इससे कोई बहस नहीं ; लेकिन छबिया न जी सकी।

किसी की कलङ्क-कहानी को बेपर्दगी के साथ सुनने-सुनाने में कोई बहादुरी नहीं ; लेकिन किसी गुप्त रहस्य को उद्‌घाटित करने और बुराई की तीव्र आलोचना में जो सुख और गौरव मिलता है, उस लालसा को त्याग देना गुलाबी तो क्या, गाँव की किसी भी स्त्री के लिए सम्भव नहीं था। गुलाबी ही नहीं, सब बूढ़ी और नवेली इस चर्चा में उत्साह से भाग लेतीं और छबिया तथा उसके मामा-मामी की भर-पेट निन्दा किया करती थीं। जाड़े की हवा की तरह यह निन्दा कानोंकान उड़ रही थी और सुन-सुन कर सब सिहर उठते थे। परिणाम की किसी को चिन्ता नहीं थी, सब यही चाहते थे कि छबिया को इस दुष्कर्म का कठोर से कठोरतर दण्ड मिले।

इस निन्दा-नदी की धारा में जो कल-कल ध्वनि उत्पन्न होती थी, उसकी भनक एक दिन छबिया के मामा भूपाल सिंह के कानों में भी पड़ी, और उसका परिणाम बड़ा भयङ्कर देखा गया। बरसात के दिन

थे। उस रात को रात-भर पानी बरसा था। भोर के समय छबिया अपने मामा के दरवाजे पर बेहोश पड़ी पायी गयी। बेंत और तमाचों की मार के दाग शरीर पर साफ उभर आये थे। नाक से निकला रक्त गाल और धरती पर गिर कर सूख गया था। तमाशा देखने के लिए एक भीड़ इकट्ठी हो गई। लेकिन छबिया की निन्दा करनेवाले ही अभी उसके मामा की निन्दा कर रहे थे। उन्हें इसका अनुमान भी नहीं था कि छबिया को ऐसा भीषण दण्ड मिलेगा। भीड़ उत्तेजित थी, लोग भूपाल सिंह की निन्दा कर रहे थे। इस बात की गर्मागर्म चर्चा हो रही थी कि थाने में चलकर अभी इस बात की खबर दी जाय। जब पुलिस हथकड़ी डालकर ले जायगी, तब बच्चेराम को आटा-दाल का भाव मालूम होगा। सभी इस बात को भली भाँति जान रहे थे कि अब अपने मामा के यहाँ छबिया के लिए जगह नहीं, सबके दिल में छबिया के लिए सहानुभूति थी; लेकिन कोई भी वहाँ ऐसा न था जो छबिया को अपने घर में ले जाता और उसके रहने-खाने का प्रबन्ध कर देता। इसमें गाँववालों के बीच एक बदनामी थी, भूपाल सिंह से शत्रुता मोल लेनी थी। इसी समय भीड़ को चीरकर गुलाबी पहुँच गयी। खबर मालूम होते ही वह दौड़ चली थी। उसके मुँह से भूपाल सिंह के प्रति अपशब्द निकल रहे थे। वह उत्तेजित थी और उसका सारा शरीर काँप रहा था। छबिया उस समय अपनी आँखें खोल रही थी। गुलाबी उसके चेहरे पर झुककर बोली—'हाय-हाय, बेचारी की जान ही ले ली। क्या इसके मरने से भूपालसिंह की बदनामी मिट जायगी? अरे तुम लोग टुकुर-टुकुर ताकते क्या हो; इसे उठाओ। चलो, इसे ले चलें। भला कहीं ऐसा भी मामा होता है? दुश्मन है दुश्मन!'...

गुलाबी की आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थीं। कण्ठस्वर रुप हो गया था। काँपते हुए शरीर से बेचैनी टपक रही थी। वह कहती गयी—'रुपयों के लालच से उसने इसे बुड्ढे बैल के गले में बाँध दिया। हरामजादे को जरा भी दया न आयी। उसके बाद... उसके बाद ''निपूता, कोढ़ी कहीं का !.....'

तत्काल गुलाबी की आज्ञा का पालन किया गया। बुढ़िया के घर के एक कमरे से उसकी वह चाकलेट रङ्ग की गाय निकालकर आँगन में बाँधी गयी। पड़ोसी के यहाँ से वहीं पर एक बाध टूटी हुई चारपाई आयी, बुढ़िया गुलाबी ने खुद अपने ओढ़ने की गुदड़ी को निकालकर उसे ओढ़ाया और गाँव के नीलकण्ठ वैद्य ने बिना किसी दक्षिणा की आशा के केवल उपकारवश उसकी नब्ज देखकर गुलाबी को आश्वासन दिया— 'भय की कोई बात नहीं !'

सचमुच भय की कोई बात नहीं थी। देखते-देखते आठ-दस दिनों में छबिया अच्छी हो गयी। गुलाबी के प्राणों में जैसे प्राण आये। वह छबिया की ओर देखती थी तो उसके मन में एक गर्व होता था। जो कोई भी उससे मिलता, उसके सामने वह छबिया के मामा को भाँति-भाँति की गालियाँ देती और लोगों से सहानुभूति का सञ्चय करती। इसी बीच एक दिन एक घटना घट गयी। छबिया अच्छी हो गयी थी और उसे बेकार बैठना खराब लगता था। एक दिन बुढ़िया गुलाबी ने देखा कि वह रसोईघर के अन्दर घुसकर लीप रही है। गुलाबी आँखें तरेरकर बोली— हरामजादी, तुझसे लीपने को किसने कहा था ?

छबिया सुन्न हो गयी। इस निरादर की उसने कल्पना भी न की थी। उसका हाथ जहाँ का तहाँ रुक गया। चेहरे पर स्याही फिर गयी। आँख उठाकर बुढ़िया की ओर देखा भी नहीं गया। सिर झुकाकर बोली— चाची, मैंने समझा था·····

जो उसने समझा था, निश्चय ही गलत समझा था। उसे जो समझना चाहिए था, वह अपनी कहते-न-कहते समझ गयी। उससे बोला न गया। आँखों में आँसू भर आये और वह सिसक-सिसककर रोने लगी।

बुढ़िया गुलाबी ने चिल्लाकर कहा—निकल! वहाँ से निकल!··· कलमुँही, अब मेरा भी धर्म भ्रष्ट कर डालेगी।

छबिया चुपचाप वहाँ से निकलकर बाहर चली आयी।

गुलाबी ने कहा— तुझसे कोई कुछ काम करने को कहता नहीं है। तू चुपचाप बैठी रहा कर। मेरी चीजों पर हाथ लगायेगी तो ठीक न होगा; कहे देती हूँ।

और उस दिन न जाने किस युग की हँड़िया को गुलाबी ने अपने रसोई-घर से निर्वासित करके घूरे पर फेंक दिया। उस पर राहचलते मनचले लड़कों ने अपनी निशानेबाजी दिखलायी, कौवे आये, उसपर बैठे और फिर निराशापूर्वक उड़ गये।

गुलाबी झींखती और छबिया पर तरह-तरह के लाञ्छन लगाती हुई कुम्हार के यहाँ गयी। अपना तमाम दुखड़ा रोने के बाद छबिया के मामा पर सहस्रों गालियों की बौछार की और उसके बाद सस्ते दामों में दो हंडियाँ लेकर घर लौटी। वहाँ छबिया का कोई पता नहीं था। वह फिर झुँझलायी। अल्हड़ लड़की की नासमझी और

अदूरदर्शिता पर बिना किसी श्रोता के लेक्चर देती हुई रसोई के धन्धे में व्यस्त हो गयी।

आखिर छबिया के दर्शन हुए शाम के समय। गुलाबी ने कर्कश कण्ठ से पूछा— तू थी कहाँ ?

छबिया ने इसका कोई जवाब नहीं दिया। आँचल से मुँह छिपाये ज्यों की त्यों खड़ी रही।

गुलाबी ने कहा—आज दिन-भर तू थी कहाँ ? तेरे ये चलन मुझे नहीं भाते। मैं बूढ़ी आदमी, तब से भूखी बैठी हूँ। तुझे कुछ समझ होनी चाहिए थी। क्या तुझे भूख भी नहीं लगती ?

छबिया ने कहा— हाँ, मुझे भूख नहीं लगती। तुमने खा क्यों नहीं लिया ?

गुलाबी के झुर्रियों-भरे मुँह पर हँसी दौड़ गयी। कहा—मेरे कोई बाल-बच्चे नहीं रे ; तू बेटी होकर घर में आयी है और तेरे बिना मैं खा लूँ ? चल-चल, खाने चलें ; मैं तो भूख के मारे मर गयी। बुढ़ापे में निगोड़ी भूख भी कितना सताती है।

छबिया ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह जहाँ की तहाँ, ज्यों की त्यों खड़ी रही।

गुलाबी ने कहा— अरे चलती क्यों नहीं ?

छबिया बोली— चाची, आज मैं गङ्गा में डूबने गयी थी।

गुलाबी जैसे आसमान से गिर पड़ी। आँखें फाड़कर कहा— हाँ-हाँ, यही सीखेगी और क्या। एक कुकर्म तो तूने ऐसा किया जिसके लिए दुनिया में बदनाम हो गयी। अब अपनी जान देकर भगवान् को कैसे मुँह दिखलावेगी ?····· मुझे यह सब पसन्द नहीं, मैं कहे

देती हूँ। चल, अब खाने चलें। एक तो तुम्हारा मामा ऐसा निकला··· और इसके बाद बुढ़िया का लम्बा और अनुपयोगी भाषण आरम्भ हो गया।

३

सात-आठ महीने के बाद की बात है। लोगों में छबिया की कोई चर्चा न थी। वह बुढ़िया गुलाबी के घर में रहती, गोबर पाथती, कण्डे लाती। गेहूँ के खेत में सियार भगाने को वह रात-रातभर जागकर टीन बजाती। उसका जीवन एक अजीब तरह कट रहा था। किसी से मिलती-बोलती भी नहीं। किसी ने बुलाया तो उसके यहाँ मजदूरी कर आती। कुछ दे दिया तो ले लिया और नहीं तो मजदूरी माँगने में भी उसे शर्म आती थी। जैसे वह भरी जवानी में ही बुढ़िया हो गयी थी।

और इधर बुढ़िया गुलाबी का स्वभाव ही पलट गया था। जहाँ जाती, छबिया की बात लेकर जाती। आज उसने यह किया, कल वह यह काम कर रही थी; यहाँ तक कि लोग सुनते-सुनते ऊब जाते। छबिया न हुई—जान का जञ्जाल हो गया।

एक दिन छबिया आयी, कहा, पेट में दर्द है और बिस्तर पर पड़ गयी।

गुलाबी जब उसकी शुश्रूषा करने पहुँची तो मालूम हुआ, यह पेट का दर्द नहीं, यह प्रसव की वेदना है। खीझकर बोली— मैं कहती थी, इतना काम न किया कर। आखिर एक महीना पहले ही बच्चा पैदा हो रहा है।

छबिया रोती-रोती बोली— मैं नहीं बचूँगी चाची, मेरे कसूरों को माफ करना। तुम मेरी माँ से भी बढ़कर हो। अगर मेरी माँ भी

होती, तो भी वह मुझे घर से निकाल देती ; लेकिन तुमने मुझे ठौर दिया।··· हे भगवान्!··· मैं तुम्हारी कोई सेवा नहीं कर सकी, चाची!···

गुलाबी ने डाँटकर कहा— बक-बक न कर ; मैं अभी चमारिन बुलाये लाती हूँ।

फिर तमाम गाँव में इस बात की चर्चा गर्म हो गयी। लोगों को भूली हुई बात याद हो उठी और उसका मजा उठाने में सब दत्तचित्त हो गये। उस समय न किसी को छबिया के प्रति सहानुभूति थी और न बुढ़िया गुलाबी के प्रति। सबके सामने उस समय जैसे सबसे गहरा प्रश्न यही था कि आखिर यह गर्भ किसका हो सकता है? लोग कल्पना दौड़ाते थे और तरह-तरह का अनुमान करके बातचीत कर रहे थे। दूसरे दिन जब गुलाबी गाँव में निकली, तो लोगों ने कनखियों से मुसकराकर उसकी ओर देखा। किसी ने कहा— बधाई है गुलाबी बूढ़ी!

जवाब में बुढ़िया हँसी। बोली— भाई, भगवान् की दया है। रात तो मैं घबरा गयी थी ; लेकिन खैर कहो कि सब मजे में बीत गया।

लड़का है कि लड़की?

लड़का है भैया। चाँद-जैसा लड़का है।

तब तो तुम्हें सोहर गाना चाहिए था।

अबकी गुलाबी ने ताने को समझा। उसका मर्म बिंध गया ; लेकिन सँभलकर बोली— भैया, मेरे यहाँ नाती पैदा हुआ है तो सोहर गाने के लिए तुम्हारी घर को तो नहीं आवेंगी। लेकिन हम

गरीब आदमी भी सोहर गाना जानते हैं। ननकी चमारिन से पूछ लेना, मैं अकेली रात-भर सोहर गाती रही हूँ। और अभी तो क्या हुआ, मैं उसकी छठी इस तरह करूँगी कि दुनिया देखेगी। तुम्हारा भी तवाजा रहा, आज ही कहे जाती हूँ।

गुलाबी ने ईंट का जवाब पत्थर से दिया था। वह जानती थी कि मैं औचित्य की सीमा से बाहर जा रही हूँ; लेकिन उसका अपने ऊपर वश न रहा।

छठी के तवाजे की बात सुन कर उसने कहा—जिस के बाप का भी कोई पता नहीं, उस लड़के की छठी का भोज खाने के लिए कम से कम मैं तो नहीं जा सकूँगा।

४

उस अज्ञातकुलशील बच्चे की छठी हुई; लेकिन खाने के लिए कितने आदमी गये थे, इस बात को लिखने की अपेक्षा मौन ही रह जाना अधिक अच्छा है।

धीरे-धीरे दिन बीत चले। महीने, दो महीने और कई महीने।

अब छबिया उस लड़के को गोद में लेकर गाँव में निकलती। लोग उस बच्चे को देखते और कहते—कितना स्वस्थ है! फिर कोई कह उठता—दोगला है न! छबिया इन बातों को सहने की आदी हो गयी थी। उसे अब लाज-शर्म कम लगती थी। कभी वह गाँव के भले लोगों के सामने से भी निकल जाती और सिर का आँचल न खींचती थी। लोग उससे न जाने किस चीज की उम्मीद रखते थे और जी खोलकर उसकी और गुलाबी की निन्दा किया करते थे।

इधर गुलाबी बीमार रहा करती थी और उधर छबिया को कोई

काम देना भी नहीं चाहती थी। गुलाबी न दवा करती और न करने देती। जब छबिया उसे दूध देने आती तो गुलाबी उखड़ती हुई साँस को बटोर कर कहती—बाबू क्या पीयेगा ?

और इसी तरह दिन चल रहे थे। एक-डेढ़ महीने के बाद दमे की गहरी बीमारी भोगकर बुढ़िया गुलाबी फिर चंगी हो गयी। वह बड़ी कमजोर और कुबड़ी हो गयी थी। बड़ी मुश्किल से काँपते हुए हाथ से लाठी टेककर घर से बाहर निकल सकती थी। एक दिन छबिया ने कहा—चाची, तुम तो आधी भी न रही।

गुलाबी ने कहा—मैं डर रही थी कि अगर अभी चल देती, तो मेरी सद्गति भी न होती। भगवान् बड़े दयालु हैं; उन्होंने मुझे फिर से बचा लिया। अब मैं प्रायश्चित्त करने काशीधाम जाऊँगी।

छबिया अचरज से भर कर बोली—चाची, तुमने कौन-सा पाप किया है जो प्रायश्चित्त करोगी ?

बुढ़िया एक क्षण चुप रही, फिर धीरे से बोली— बेटी, मैंने तुम्हें अपने घर में रक्खा है !

लेकिन तुमने तो मेरा छुआ हुआ एक बूँद पानी भी न पीया।

बुढ़िया ने विश्वस्त भाव से कहा—इससे क्या, प्रायश्चित्त करना तो होगा ही।

छबिया घबरा गयी। प्रायश्चित्त का कोई तात्पर्य उसकी समझ में आता ही नहीं था। लाख कहती रही; लेकिन गुलाबी के मन को घेरकर भी उसे रोक न पायी। गुरुराम के यहाँ दस रुपये बाकी निकलते थे, बड़ी मुश्किल से उसे वसूल किया और काशी के लिए चल पड़ी। जाती बेर छबिया के उस अबोध बच्चे को गोद में लेकर रोते-रोते अधीर हो गयी थी।

लोगों को आशा थी कि गुलाबी फिर आवेगी ; लेकिन वह नहीं लौटी। कई महीने के बाद मुसम्मात छबिया के नाम एक बन्द लिफाफा आया था। डाक-मुन्शी ने उसे पढ़ा था और चुपके-चुपके गाँववालों को खबर सुनायी थी कि बुढ़िया के सिरहाने तीन सौ रुपये गड़े हैं, उन्हें छबिया के लड़के की शादी के लिए छोड़ गयी है।

बहुत दिन बीत गये। छबिया का लड़का अब बारह वर्ष का हो गया है और गाँव के लड़कों के साथ गुल्ली-डण्डा खेलता है। बुढ़िया गुलाबी का कोई पता नहीं चला। कुछ लोगों का अनुमान है कि वह अब भी जीवित है। आजकल भी वह काशी में ही है। कुछ लोगों का कहना है कि हमने वहाँ उसे अपनी आँखों से देखा था। वह विश्वनाथ-मन्दिर के सामने खड़ी भीख माँग रही थी। वह बिलकुल अन्धी हो गयी थी और वस्त्र के नाम उसके शरीर पर सिर्फ एक चिथड़ा था।

न जाने बात कहाँ तक सच है।

मन की शक्ति

"आप लोग मन की शक्ति के बारे में कुछ जानते नहीं और इधर-उधर की बातें किया करते हैं। मन बड़ा पराक्रमी है, असीम शक्तिशाली है। मन की शक्ति से बड़े-बड़े काम होते हैं। अँगरेजी में इसे 'पावर आफ विल' कहा जाता है। इस मन में 'मैग्नेटिज्म' होता है। यह मैग्नेटिज्म फासिज्म से ऊपर, सोशलिज्म से नीचे और इम्पीरियलिज्म के समान है। हम मन पर शासन करते हैं।"

पण्डित रुद्राक्ष मिश्र ने टेबिल पर घूँसा चलाते हुए कहा—"भाइयो, मन महान् है···!"

मन की महत्ता का पूरी तरह दिग्दर्शन कराने के लिए पण्डितजी ने टेबिल के ऊपर ऐसा घूँसा चलाया कि दावात उछल गई, कलम छितरा गया और किताबें नीचे गिर पड़ीं। लोगों ने घबरा कर उनकी ओर देखा। पण्डितजी का सारा शरीर काँप रहा था, नथने फड़क रहे थे, आँखें लाल हो गई थीं और उनका विशाल कलेवर पसीने से शराबोर हुआ जाता था। उन्होंने एक बार फिर हुङ्कार के साथ कहा—"मन महान् है!"

पण्डितजी की इस विकट गर्जना को सुनकर श्री रामदत्त जी 'दत्त' की पिंडलियाँ काँपने लगीं। श्री द्वारकादास जी 'द्वार' भौंचक होकर द्वार की ओर झाँकने लगे। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर पण्डित जी इतने गर्म क्यों हो गये। उनके एकाएक इस तरह क्रुद्ध हो उठने का कारण क्या है।

असली तात्पर्य केवल कुछ-कुछ मैं समझ रहा था। पण्डितजी को अगर कोई कहानी सुनानी होती है तो वे सब मिला कर सत्रह तरह की भूमिका बाँध सकते हैं। कभी गर्जन-तर्जन करते हैं, कभी इस तरह ठठाकर हँस उठते हैं कि सुननेवाले का यकृत और पिल्ही काँपने लगती है। कभी-कभी कोई करुण कहानी कहने के पहले वे छाती पीटकर इस तरह गला फाड़ते हैं कि दीवार दरकने का-सा आभास मिलने लगता है। फिर दो-तीन चम्मच आँसू गिराने के बाद वे अपनी कहानी शुरू करते हैं।

लेकिन पण्डितजी चाहे रौद्र-रस की कहानी कहें या करुणरस की, मगर उस रस से कुछ आता-जाता नहीं है। उनकी सारी कहानियों में हास्य-रस का मजा मिल जाता है। इस प्रकार के रससिद्ध अमर कलाकार पण्डित रुद्राक्ष मिश्र ने उस दिन जो कहानी सुनाई, वह इस प्रकार है—

"देखिये साहब, मन बड़ी मजबूत चीज है। इसकी मजबूती को आप इस्पात देख कर भी नहीं समझ सकते। आजकल अमेरिका से ऐसी-ऐसी बहुत-सी किताबें छपकर आ रही हैं जिनमें मन की मजबूती का वर्णन होता है। मैं अपने बारे में क्या बतलाऊँ। आज पचास साल से बराबर मेरे पास मन था, लेकिन मन की मजबूती को मैं समझ नहीं सका। इस मन की शक्ति से मैं बराबर अनजान बना रहा। यदि मन की महत्ता को मैंने पहले जाना होता तो अब तक न मालूम कितने करिश्मे कर चुका होता। यदि मैं मन की शक्ति को समझता तो कम से कम पन्द्रह-बीस आविष्कार करता, शेक्सपियर की तरह लगभग पौने तीन दर्जन ड्रामा लिखता और आरसी-प्रसाद की तरह न मालूम कितनी कविताएँ लिख लेता। मन बड़ी भारी चीज है। इसके द्वारा आप चाहे जो कर लें।"

रामदत्तजी 'दत्त' ने बीच में छेड़कर कहा—"अकसर ऐसा होता है कि सम्मेलनों में सुरीला गला न होने के कारण मेरी कविताएँ जमतीं नहीं। उधर नवनीत जी और उपवीत जी हैं कि अपनी सड़ी-गली कविताएँ भी जमा लेते हैं। तो क्या मन में ऐसी भी शक्ति है कि जिसके द्वारा आदमी का गला सुरीला हो जाय?"

पण्डितजी ने डपट कर कहा—"अरे मूर्ख, तू गला सुरीला होने की

पूछता है। मन में ऐसी शक्ति है कि गला कट कर सिर अलग और धड़ अलग हो सकता है। हाँ, इसके लिए साधना करनी पड़ेगी। साधना से ही सब कुछ सम्भव है।"

२

एक दिन पुस्तकालय से एक पुस्तक लाकर मैं चौंक उठा। उस पुस्तक में मन की महत्ता का विशद वर्णन था। मन की शक्ति से आप चाहे जो भी हो सकते हैं। आपका जो मन है वही कपिल है, वही कणाद है। वही हरिश्चन्द्र है, वही यमराज और ध्रुव-प्रहलाद है। साहब, आप ही शेक्सपियर हैं, आप ही गेटे और कालिदास हैं। मन की शक्ति को पहचानिये। उससे काम लीजिये। फिर चाहे आप शेक्सपियर की भाँति ड्रामा लिखिये अथवा बिस्मार्क की भाँति राजनीति में उतर पड़िये। देखिये, यह चर्चिल कौन है। चर्चिल कोई नहीं है। चर्चिल भी हाड़-माँस से बना हमारी तरह का एक आदमी है। मगर चर्चिल का जो मन है वही चर्चिल को चर्चिल बनाता है। मन ही चर्चिल बन कर दहाड़ता है, हिटलर बनकर पैंतरे बदलता है और गांधी बनकर उपवास करता है। मन ही मूसा और मुसोलिनी है। मन की ताकत ही तोजो और स्टालिन है। मन मार्क्स से भी बड़ा है। मन के जरिये चाहे जो कर लो।

इस तरह मन की ताकत को पहचान कर मेरा सारा शरीर पसीने से तर हो गया। मेरा मन मेरे पास और मैं हूँ कि सारी दुनिया का चक्कर लगाता फिर रहा हूँ। मैं इतना महान् हूँ कि अभी मुसोलिनी को पछाड़ दूँ, फिर भी अभी तक अपनेको छोटा समझ रहा हूँ। मन की असीम शक्तियों को जानने के बाद मेरी आँखों से

आँसू बहने लगे। मैं पछताने लगा और कहने लगा—अरे मूर्ख मन, तू अपनी असीम शक्तियों के साथ मेरे पास पचास वर्षों से बराबर रह रहा है। लेकिन कभी मुझे नहीं बतलाया कि तू कितना पराक्रमी है। अभी तक न तो मैं नेपोलियन बोनापार्ट बन पाया और न सर गिरिजाशङ्कर वाजपेयी ही हो सका।

अब पछताने से कुछ होना-हवाना नहीं है। जो हो चुका सो हो चुका, अब मन की शक्तियों को काम में लाना चाहिये। मैंने पक्का इरादा कर लिया कि मन की असीम शक्तियों के सहारे मैं संसार का कोई भयङ्कर महापुरुष बनूँगा। तब हमारे बाल-बच्चे इतिहास में हमारा नाम पढ़ेंगे और आश्चर्य से चकित हो जायँगे। मेरे कारनामों का विशद वर्णन पढ़ते-पढ़ते उनका दिमाग चक्कर खाने लगेगा। वे इतिहास के पन्ने उलटते जायँगे और कहते जायँगे कि थोड़े ही दिनों की जिन्दगी में पण्डित रुद्राक्ष मिश्र ने कितना-कितना क्या कर लिया। जब बिना दाम-कौड़ी के मन में ही सारी शक्तियाँ मौजूद हैं तो फिर इससे लाभ क्यों न उठाया जाय!

तब बहुत-कुछ सोचने-विचारने के बाद यही तय पाया कि एकाएक बहुत अधिक कर गुजरने से सारे संसार के लोग घबरा उठेंगे। कहीं कोई दुश्मन खड़ा हो जाय तो और भी परेशानी होगी। इसलिए जो कुछ करना है सो धीरे-धीरे किया जायगा। मैंने पूछा— "हे मन, अब तुम संक्षेप में बतलाओ कि तुम क्या करना चाहते हो?"

मन ने बहुत सोचा-विचारा, तरह-तरह के नक्शे बनाये, तमाम बातों का तर्क-वितर्क किया। उसके बाद जवाब दिया—हे रुद्राक्ष मिश्र, यों तो करना दुनिया में बहुत कुछ है, मगर फिलहाल ये तीन काम करूँगा—

(१) एक तो मैं जामुन के सिरका से एक ऐसी जहरीली गैस का निर्माण करना चाहता हूँ जो विलायती मस्टर्ड गैस से भी महान् साबित हो।

(२) मन ने दूसरी बात यह बतलाई कि हे रुद्राक्ष मिश्र, मैं हिन्दी में दुर्दण्ड-प्रचण्ड एक दैनिक पत्र ऐसा निकालना चाहता हूँ जिसे पढ़कर तमाम लोगों की पिल्ही काँपने लगे।

(३) मैं अपना ज्ञान इतना अधिक बढ़ाना चाहता हूँ कि श्रीमान् रुजवेल्ट साहब का अटलांटिक चार्टर मेरी समझ में आ जाय।

इतनी बातें तय हो जाने के बाद सवाल हुआ कि आखिर सफलता किस प्रकार प्राप्त की जाय। इसके लिए हमारी किताब तीन बातें बतलाती थी—

(१) एक बड़ा-सा कागज लो और उसमें एक रुपया के बराबर काला दाग बना लो। रोज सुबह-शाम बैठकर तीन घण्टे तक उसी काले दाग से आँख लड़ाओ। आँख लड़ाते-लड़ाते तुम्हें अभ्यास हो जायगा। तुम्हारी पलक जरा भी नहीं गिरेगी। तब तुम उसमें विचित्र-विचित्र दृश्य देखोगे। एक से एक ऐसी बातें देखोगे कि तुम्हारा चित्त भटक जायगा। लेकिन खबरदार, अपने मन को उन दृश्यों में हरगिज मत भटकने दो। मन भटकाओगे तो तुम्हारा जीवन भटक जायगा। शान्त-चित्त बस आँख लड़ाते जाओ। लड़ाते लड़ाते अन्त में तुम्हें एक दरवाजा दिखलाई देगा। वही सिद्धि का दरवाजा है। उस द्वार से होकर तुम अन्दर घुसो। शरीर को भीतर ले जाने की जरूरत नहीं है, केवल मन को ही घुसा देने से काम बन जायगा। घुसते-घुसते जब तुम उसमें बिलकुल घुस पड़ोगे तो तुम्हें एक विराट कमरा मिलेगा। वहाँ तुम एक कुर्सी खींच

लो और बैठ जाओ। फिर एकाग्र चित्त को और भी एकाग्र बनाओ। तब अपने सिद्धान्तों का प्रयोग करो। तुम्हारी सफलता तुम्हें वहीं मिल जायगी।

(२) अपने चित्त को एकाग्र करो। झुँझलाने की आवश्यकता नहीं। रात के समय अँधेरे में निकलो। अपनी जेब में पाँच पैसे डाल लो। उस घोर अँधेरे में अपने पाँचों पैसों को निकाल कर फेंक दो। उसके बाद उन पैसों को खोजना शुरू करो। खोजते-खोजते जब तुम शीघ्रता-पूर्वक अपने पैसों को प्राप्त करने लगोगे तब तुम्हारा चित्त एकाग्र हो जायगा। झुँझलाहट धीरे-धीरे जाती रहेगी।

(३) अपनेको तुच्छ मत समझो। तुम्हारे अन्दर सारी शक्तियाँ मौजूद हैं। तुम्हीं सब कुछ हो। जिस समय ड्रामा लिखना शुरू करो उस समय विचार करो कि तुम शेक्सपियर से भी बढ़कर नाटककार हो। जिस समय ताकत से काम लो उस वक्त खयाल करो कि भीमसेन की सारी ताकत तुम्हारे अन्दर मौजूद है। राजनीति के विषय में बातें करते समय यही अन्दाज कर लो कि तुम बृहस्पति का मस्तिष्क रखते हो। समय-समय पर इसका अभ्यास करो। एकान्त में बैठ जाओ और विचारना शुरू करो कि मैं भीमसेन हूँ, मैं बृहस्पति और बिस्मार्क हूँ, मैं कालिदास हूँ, मैं ही शेक्सपियर हूँ···!

३

मैंने वैसा ही किया। एकान्त में बैठ गया और कहना शुरू किया—मैं ही भीमसेन हूँ, मैं महावीर हूँ, मैं ही कविकुलचूड़ामणि कालिदास हूँ। मैं कार्लमार्क्स हूँ, मैं महात्मा गांधी हूँ। मौलाना शौकतअली और मोहम्मदअली भी मैं ही हूँ। मेरा नाम मिस्टर जिन्ना है। मैं चेम्बरलेन

हूँ, चर्चिल हूँ, रुजवेल्ट हूँ। मुझे लोग चां-काई-शेक कहते हैं, मैं राजेन्द्रप्रसाद हूँ। मैं स्तालिन हूँ, वेंडल विल्की हूँ। सरोजिनी नायडू और कमला चट्टोपाध्याय भी मैं ही हूँ।

उस एकान्त में धीरे-धीरे ध्यान जम रहा था। कुछ-कुछ ऐसा भी समझ में आ रहा था कि नेहरू और पटेल भी मैं ही हूँ। सहसा श्रीमती-जी ने एकाएक आकर कहना शुरू किया—"यहाँ क्या हो रहा है? लकड़ी लाने का समय हो गया और तुम यहाँ कोने में बैठकर आँखें बन्द किये पड़े हो!"

बड़ा बुरा मालूम हुआ। कहाँ तो मैं रुजवेल्ट और स्तालिन हूँ और कहाँ मेरी श्रीमती जी फरमा रही हैं कि लकड़ी ले लाओ। बात को सहू-लियत के साथ भी नहीं कहना जानतीं। अगर ऐसा ही था तो धीरे-धीरे आतीं और कोमल कण्ठ से कहतीं—"प्राणाधार, तुम रुजवेल्ट और स्तालिन हो; गांधी और राजेन्द्र प्रसाद हो; लेकिन क्या करूँ, लाचार होकर तुम्हें एक कष्ट देती हूँ। आजकल लकड़ी की समस्या भारतवर्ष की सबसे बड़ी समस्या है। मेरे प्यारे रुजवेल्ट, तुम्हीं इस महान् समस्या को हल कर सकते हो!"

तब मुझे ऐसा बुरा नहीं मालूम होता, और इस समस्या को भली भाँति हल कर देता। मगर मेरी श्रीमती जी को राजनीति का इतना ज्ञान थोड़े ही है। इसके सिवा मन की महत्ता को भी नहीं जानतीं। कब क्या बोलना चाहिये, इसका भी शऊर नहीं। मैंने अपनी आँखें नहीं खोलीं। विरक्त होकर इशारा किया—"तुम यहाँ से चली जाओ। मुझे अवकाश नहीं।"

मगर भला श्रीमती जी क्यों मानने लगीं। उन्हें मेरे महान् संकल्पों

से प्रयोजन ही क्या ठहरा। बोलीं—"तुम तो बस वैसे ही हो। जब लकड़ी लाने का समय हुआ तो यहाँ आकर ध्यान लगाने लगे। सोचते होंगे कि इस तरह जान बच जायगी। मगर यह भी कोई ध्यान लगाने का समय है। साँझ-सवेरे आँख बन्द करते तो सोचा जाता कि शायद सचमुच ध्यान लगाते होगे। लेकिन यह पौने तीन बजे दिन को···यह भी कोई समय है···दुनिया-भर का ढोंग कोई तुम से सीख ले!"

हाँ, अब ढोंगी भी साबित हो गया। जिस समय लोग ईसा को सूली पर चढ़ा रहे थे उस समय ईसा ने कहा था—"परमेश्वर, इन्हें क्षमा करो। ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।"

मेरी श्रीमती जी का भी वही हाल था। कहाँ मेरे जीवन के दिव्य संकल्प, कहाँ मन की अपरम्पार शक्ति और कहाँ बाजार से खरीद कर लकड़ी लाना। इसमें कोई भी तुक नहीं मिलती थी। हालाँ कि मेरी पुस्तक में बार-बार मना किया गया था कि कभी किसी अवसर पर झुँझलाना नहीं चाहिए, लेकिन फिर भी तबीयत भिन्ना गई; चिढ़कर बोला—"शिवुआ कहाँ गया?"

श्रीमती जी ने ऐंठकर जवाब दिया—"शिवुआ मर गया!"

"और ढेमन?"

"ढेमना मुँहजला काली माई के खप्पर में घुस गया!"

"और सन्तू क्या करता है?"

"सन्तू कहता है कि वहाँ पहले बाबू लोगों को लकड़ी देते हैं तब हम-जैसे दुग्गी-तिग्गी की खबर लेते हैं। यदि मैं लकड़ी खरीदने जाऊँगा तो आठ बजे रात से पहले नहीं लौट सकता।"

यानी मुझे ही लकड़ी लाने जाना पड़ेगा। यह दुनिया भी कैसी

अचम्भे की चीज है। कहाँ मैं रुजवेल्ट और चर्चिल का मुकाबला कर रहा था और कहाँ मुझे धौम्य ऋषि के शिष्य की भाँति लकड़ी के लिए जाना पड़ता है। दुनिया में किसी की कोई कद्र नहीं। अगर यही हाल रहा तो जामुन के सिरके से गैस तैयार करना भी असम्भव हो जायगा। क्या करता; लाचार उठकर खड़ा हो गया और श्रीमती जी से पैसे लेकर लकड़ी लाने चल पड़ा।

ओह, वह लकड़ी की दूकान थी या विश्वनाथ का मन्दिर था। लकड़ी के लिए इतनी भीड़! उस पर भी लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान जङ्गली देश है। इस जङ्गली देश में भी लकड़ी नहीं मिलती। लोग कहते हैं कि सब कुछ सरकार ही करती है। सरकार गेहूँ को तेहरान भेज देती है और चावल को चीन चालान कर देती है; मगर यह जलावन की लकड़ी! अच्छा, अब जरा मेरी मानसिक शक्तियाँ काबू में आ जायँ तो लकड़ी की एक विराट दूकान खोलूँगा।

मगर यहाँ इतनी भीड़ में प्रवेश कैसे पाया जाय? आगे बढ़ा तो एक ने कहा—"अरे-अरे, कौन घुसा आता है?"

दूसरे ने कहा—"ठहरो भाई!"

तीसरा बोला—"अबे...अबे...!"

मगर फिर भी मैं जोर मारे जाता था। भीड़ के मारे ऐसा मालूम होता था मानों मैं कुचल कर चिपटा हो जाऊँगा। मालूम होता था मानों मेरा शरीर कोई विशाल बैंगन है; उसे चारों ओर से दबा-दबाकर लोग भुरता बना रहे हैं। सहसा खयाल आ गया कि मैं ही तो रुजवेल्ट हूँ, मैं ही स्तालिन और पटेल हूँ। मेरे शरीर में भीमसेन का बल है। मैं ही गामा हूँ। मुझे लोग ईमाम-बख्श कहते हैं।

एकाएक ऐसा रेला मारा कि सारी दुनिया दंग हो गई। लोग 'हाय हाय, पकड़ो-पीटो' करते ही रहे और मैं सबसे आगेपहुँचकर लकड़ियाँ ले ही आया।

४

साँझ को चारपाई से उठकर मैंने पाँच पैसे जेब के हवाले किये और बाहर निकला। बाहर अँधेरा तो था, मगर एकान्त नहीं था। वैसे अगर सड़क पर पैसे बिखेर दो और टटोलते फिरो तो लोग कहेंगे कि अन्धा है। इस ब्लैकआउट ने मेरे काम को जैसा सहल कर दिया था, वैसा ही कठिन भी। इधर मैं सड़क पर पैसे फेंक कर साधना कर रहा हूँ और उधर से कहीं कोई रिक्शावाला आया और रिक्शा-समेत फौरन मेरे सिर पर सवार हो गया तो···!

तब न सिरका-गैस तैयार हो सकता है और न अटलांटिक-चार्टर ही समझ में आ सकता है। घर में श्रीमती जी हैं और अँधेरा भी नहीं है। वहाँ साधना हो नहीं सकती। देखता-भालता मैं अपने घर के पिछवाड़े पहुँचा और प्रसन्नता से नाच उठा। हाँ, नाच उठा, क्योंकि वहाँ घोर-तर अँधेरा था और कोई देखने वाला भी नहीं था। ऐसी भी शङ्का नहीं थी कि इधर कोई आदमी आ सकता है या रिक्शावाला ही घुसने की हिम्मत कर सकता है।

जब मन में पूरा इतमीनान हो गया तब मैंने पाँचों पैसे झन्न से फेंके और उन्हें खोजना शुरू किया। उस अँधेरे में परमात्मा का मिल जाना आसान था, लेकिन पैसों का मिलना महा कठिन था। अँधेरे में पैसा खोजते-खोजते मुझसे एक गलती भी हो गई। वहाँ कूड़ा फेंकने का लोहे का—क्या कहते हैं उसे?—रखा हुआ था। अँधेरे में मुझे सूझा

नहीं और उस पर एक करारा धक्का बैठ गया। समझा था कि यह लोहे की चीज है तो मजबूत होगी, मगर वह कमबख्त भी ऐसा निकला कि धक्का खाकर चुप होने के बदले धड़ाम से पृथिवी पर पछाड़ खा गया। भयानक आवाज हुई—मानों कहीं कोई धड़ाका हो गया हो। गिरकर चुप रहना था, सो भी नहीं। घड़-घड़-घमड़—घड़-घड़-घमड़ के निर्दिष्ट छंद पर इधर-उधर ऐसा लुढ़कना शुरू कर दिया कि मत पूछो। अगर जरा भी रोशनी होती तो उस पाजी कूड़ादान को धर-पकड़ कर समझता।

इसी समय आमने-सामने के दोनों घरों के दो पिछले द्वार खुले। एक ओर से टार्च का प्रकाश आया और दूसरी ओर मिट्टी तेल की डिबरी लिये एक कानी औरत खड़ी थी। इनमें टार्चवाली तो मेरी स्त्री थी। वह देखने के लिए निकली थी कि पिछवाड़े में ऐसा क्या हड़बड़ा रहा है—कहीं कोई साँड़ तो नहीं घुस आया। दूसरी कानी औरत के विषय में मैं शपथपूर्वक कह सकता हूँ कि वह मेरी कोई नहीं थी और न उससे मेरा किसी प्रकार का कोई सम्पर्क ही था।

मगर मेरी श्रीमती जी थीं सो मानती ही नहीं थीं। सवाल पर सवाल पूछे जाती थीं कि रात के समय चुपके से तुम पिछवाड़े की ओर गये क्यों? वह तुम्हारे सामने क्यों खड़ी थी? उससे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है?

इसके बाद जो कुछ हुआ उसके सम्बन्ध में मैं आपको नहीं बतलाऊँगा कि श्रीमती जी ने मेरे साथ क्या-क्या किया और कैसे मेरी रात कटी। मैं आपको यह भी नहीं बतला सकता कि मेरी श्रीमती जी दोनली बन्दूक

लेकर मेरा और अपना खून करने के लिए तैयार हो गई थीं। जब मैंने उन्हें समझाया कि इस तरह हम लोगों के स्वर्गवासी हो जाने से बाल-बच्चे अनाथ हो जायँगे तो श्रीमती जी सिसक-सिसककर रोने लगीं। उन्होने खूँटी पर से उतार कर मेरी रेशमी पगड़ी फाड़ डाली थी और अपना झोंटा नोच लिया था।

हाँ, तो यह सब ऐसी बातें नहीं जो आप लोगों को बतलाई जायँ। थोड़े दिनों के बाद मेरी जीवनी लिखी जायगी। ऐसी अवस्था में यदि मैं इन गुप्त बातों को कह दूँ तो आप लोग मेरे जीवन-चरित के लेखक को सुना देंगे। ऐसी अवस्था में रात की घटना के विषय में मेरा उसी तरह चुप रहना अच्छा है जैसे प्रेसीडेण्ट रुजवेल्ट हिन्दुस्तान के मामले में चुप रहते थे।

जैसे-तैसे करके रात कटी। सुबह को जैसे ही आँख खुली कि देखता हूँ, मेरा मँझला लड़का कोई चीज खोज रहा है और हैरान-परेशान हो रहा है। श्रीमती जी अभी तक सो रही थीं। मुझे उठते देखकर मेरे सुपुत्र जी ने ठिनकना शुरू किया—"चारपाई पर मैंने कल पाँच पैसे रखे थे, वे कहाँ गये—ऊँ-ऊँ-ऊँ··"

"अबे चुप··चुप!" मैंने चुपके से उसे चवन्नी थमाई और समझाया—"चुप रहो, नही अम्मा जागेंगी तो तुम्हारी खैरियत नहीं। साथ ही मेरा भी कल्याण नहीं होगा।"

मेरा मँझला बेटा समझदार है। उसने चवन्नी का महत्त्व समझ लिया। पाकिट में चवन्नी डाली और हलवाई की दूकान पर वन-टू-थ्री हो गया।

५

पंडित रुद्रदत्त मिश्र ने कहा--"भाइयो, यद्यपि अभी तक मैंने जामुन के सिरके से भयंकर गैस का निर्माण नहीं किया है, यद्यपि अभी तक हिन्दी का हमारा दुर्दण्ड-प्रचण्ड पत्र नहीं प्रकाशित हुआ है और यद्यपि मैं अभी तक अटलांटिक-चार्टर का मतलब नहीं समझ सकता हूँ, तथापि मैं कहता हूँ कि मेरी असफलताओं का कारण मन की शक्ति नहीं, वरन् मेरी श्रीमती जी हैं। मैं जोर देकर कहता हूँ कि मन महान् है। मन के द्वारा आप सब कुछ कर सकते हैं!"

———

माया

नवीन कलकत्ते के लिए बिलकुल नया है। तीन-चार दिन हुए उस कारखाने का इञ्जीनियर होकर आया है। एक होटल में रहता है और रोज ड्यूटी पर जा रहा है। टालीगंज में कारखाना है। बड़ाबाजार से जाने में बहुत दूर पड़ना है। रास्ते में बालीगंज मुहल्ला मिलता है। वहाँ के 'लेक' पर वह घूम आया है। लेक (झील) के किनारे की निर्मल हवा उसे कह गई है कि यदि यहीं आसपास कोई रूम, कोई सूट या कोई सस्ता-सा फ्लैट मिले, तो इसी ओर बस जाओ। कारखाना भी यहाँ से नजदीक होगा। रात के समय खुली-खिली चाँदनी मिलेगी, ठंढी हवा के झोंके मिलेंगे। वाकिंग-स्टिक को घुमाता हुआ वह चारों ओर चक्कर लगा आया, लेकिन सूट से लेकर रूम तक कुछ भी किराये पर नहीं दिखलाई दिया। मन में उसे दुख भी हुआ; लेकिन लाचारी थी।

मगर अनायास ही उसे सुयोग हाथ आया। ऑफिस में योगेश बाबू काम करते थे। उन्होंने कहा— एक कमरा तो खाली है मेरे यहाँ; लेकिन हमलोगों का बंगाली ढंग का भोजन आपको पसंद होगा?

नवीन होटल के भोजन और वहाँ के नौकरों के असंगत व्यवहार से ऊब चुका था। बंगाली तो क्या, अभी वह बर्मी, जापानी, हवाई, सब भोजन अंगीकार कर सकता था। बोला—भोजन के बारे में मेरी कोई खास रुचि नहीं; जो सामने आता है, खा लेता हूँ।

और तब बात तय हो गयी। कमरे का किराया, बल्ब, धोबी, नौकर, भोजन, सारी सुविधाएँ मिलेंगी। मासिक पचहत्तर रुपये। सौदा सस्ता-मँहगा जैसा भी हो, घबराया हुआ नवीन राजी होने को पहले से ही तैयार था।

तिमंजिले पर नवीन का कमरा मन के अनुकूल था। भरपूर चाँदनी आती थी। खुली हुई खिड़कियों से हवा आकर रात-भर ऊधम मचाती रहती थी। कमरे में टँगा हुआ बंगाल-केमिकल का कैलेंडर सदा घड़ी के पेंडुलम की तरह हिलता रहता था। भोजन भी वैसा कुछ खराब नहीं। मछली के शोरबे में काले जीरे का जायका अच्छा लगता था। चड़चड़ी अच्छी लगती थी और केले के थम्भ की तरकारी में भी मजा आ जाता था। योगेश बाबू और नवीन दोनों रसोईघर में अगल-बगल पलथी मारकर भोजन करने बैठते थे। योगेश बाबू की गृहिणी उन्हें खिलाया करती थी। तेज हवा से उड़कर किसी का अञ्चल-छोर रसोईघर में यौवन की पताका की भाँति क्षण-

भर को आ जाता था। नवीन ने उसे कनखियों से देखा। पूछा तो योगेशबाबू ने बतलाया– 'अमार मास्तुतो बोन !'

मास्तुतो का मतलब होता है मौसेरी, और बोन कहते हैं बहिन को। नवीन बँगला नहीं जानता। भाषा संस्कृत से मिलती-जुलती है; लेकिन फिर भी समझने में दिक्कत होती है। मगर उस 'मास्तुतो बोन' की कोई भी आवाज नवीन के कानों में वीणा की झङ्कार के समान पड़ती है। उसे लगता है कि इस आवाज में जो कुछ भी बोला जा रहा हो, वह मधुर ही मधुर है—प्रीति भी, रोष भी।

अर्दा-पर्दा का सवाल नहीं था। नवीन आसानी से उसकी रूप-सुधा पान करने लगा। ऐसा उसे अच्छा लगता था। ऐसा करने से उसे अपने दिल का खालीपन भरता हुआ-सा लगता था। नवीन के मन के साथ वह लड़की रहने लगी।

उस लड़की का नाम था रमला। रसीली आँखें और सेमल की रुई की तरह हल्का बदन। गालों पर खुमारी की-सी लाली थी। बेहला के किसी स्कूल में अध्यापिका का काम करती थी और गर्मी की बेहद लम्बी छुट्टी काटने के लिए यहाँ आ गयी थी। नवीन उसे जितना देखना चाहता, उतना ही सकुचाता। बँगला उससे बोलते सपरता नहीं था। रमला भी लजीली थी। भाषा का अन्तर····नवीन के मन में प्रेम का ऐसा उद्रेग है, उसे प्रकट कैसे करे ? अङ्गरेजी भाषा रोजगार करने के लिए अच्छी हो सकती है; लेकिन प्रेम प्रकट करने की वह भाषा नहीं है। तब ? नवीन मौका खोजने लगा।

मगर धीरे-धीरे यह क्या होने लगा ? रमला जब उसके सामने होती है, तो उसकी आँखों में और भी अधिक रसीलापन क्यों भर

आता है? अगल-बगल से गुजरते हुए दोनों को रोमांच-सा क्यों आता है? सहसा आमने-सामने पड़ जाने पर रमला के गाल लाल-लाल कैसे हो जाते हैं?

नवीन सोचता है, बात खत्म नहीं होती। बात को खत्म करने के लिए वह सोचता भी नहीं। प्रेम करने वाले अक्सर सोचने के लिए ही सोचा करते हैं।

× ×

हल्की चाँदनी रात। पञ्चमी का चाँद नीले आकाश में उतरा रहा था। चाँदनी ऐसी प्यारी लगती थी, जैसे मोती के मोल खरीदी गई हो। ऐसे प्यारे समय में प्यारी रमला कैसी मालूम होती थी? नवीन स्तब्ध खड़ा था। सोच रहा था, लेकिन उसे कोई उपमा नहीं मिलती थी। लगता था जैसे भूत और भविष्य की सारी सुन्दरता वर्तमान की इसी रमला में एकत्र हो गई है। नवीन ठिठका, हारा, मूक, देख रहा था, देख रहा था...।

रमला को पता नहीं। वह छत की रेलिंग पकड़ कर खड़ी थी। नीले आसमान में चाँद उतरा रहा था। धरती का वह चाँद आसमान के उस चाँद को ओर चकोरी की भाँति टकटकी बाँधे देख रहा था। नवीन की उपस्थिति का उसे पता भी नहीं था।

जैसे किसी अज्ञात चुम्बक ने नवीन को रमला के पास खींच लिया। वह रमला के पीछे खड़ा हो गया। रमला को मालूम नहीं। उसकी आँखें आकाश की ओर हैं। उसके सिर से निकली हुई सुगन्धित तेल की खुशबू नवीन के मन में भरी जाती है। रमला के आँचल का कोना हवा में चिड़िया के डैने की भाँति हिल रहा है। नवीन उसके पीछे खड़ा है। रमला को मालूम नहीं। एक आसमान के चाँद की ओर देख रही

थी, दूसरा धरती के चाँद को देख रहा था। एक पागलपन ; प्रेम का उन्माद !

सहसा नवीन ने रमला के कन्धे पर अपना हाथ रख दिया ! रमला चौंकी । नवीन को देखते ही उसकी आँखों का अत्यधिक रसीलापन और भी अत्यधिक हो गया। दूसरे ही क्षण उसके गाल लाल हो गये, आँखें झिप गईं और एक हल्की-सी मिलन की मुस्कान के साथ उसका मस्तक नवीन की छाती से टिक गया।

प्रेम को भाषा की जरूरत नहीं होती। प्रेम की भाषा प्रेम है।

———

लेखक की जिन्दगी

जहाँ मुहल्ले के लोग कूड़ा फेंक देते हैं, उससे जरा अलग हट कर सुरेन्द्र का घर है। घर उसका अपना नहीं, किराये का है। ऐसा ही एक मामूली घर है। पाँच रुपये माहवार के हिसाब से किराया लगता है। वहाँ मुहल्ले की आबादी वैसी घनी नहीं, अलबत्त वहाँ की नाली की बू में एक तरह की तेजी है। उधर खास तौर के भलेमानसों की बस्ती नहीं । जैसे लोगों की बस्ती है वैसे लोग कोई खास बात अपने अन्दर नहीं रखते। जिन्दगी की नाव को किसी तरह ठेलठाल कर मौत के घाट पार लगा देते हैं, और बस। अगर खास बात खोजिये तो वह आपको सुरेन्द्र में मिलेगी। उसे विश्वास है कि अगले जमाने में चाहे जब कभी हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखा जायगा, तो उसका भी नाम उसमें जरूर दर्ज रहेगा। मगर हिन्दीवाले किताब खरीद कर पढ़ना नहीं जानते और जो

किताब बेचना जानते हैं वे लेखकों को पैसा देना नहीं जानते। यही वजह है कि सुरेन्द्र की हालत खराब है। हालत की खराबी अपनी सीमा तक पहुँच चुकी है। कैसे—क्या होगा; यही समझ में नहीं आता। मामूली-सा किराये का एक घर है। घर में मा है, स्त्री है, बच्चे हैं। ऊपर से एक साला भी है जो स्कूल में पढ़ता है और उसका सारा खर्च सुरेन्द्र को ही बरदाश्त करना पड़ता है। निहायत तंगदस्ती है।

यों सुरेन्द्र काफी पढ़ा-लिखा है। बी० ए० पास है। औसत दर्जे के लिए इतनी शिक्षा बहुत है और मजे में गुजर हो सकता है। और कुछ न सही, तो किसी आफिस में क्लर्क हो सकता था। तीस-चालीस या जो भी मिलता, बँधा हुआ मिलता। और जो मिलता, उससे अगर अच्छी तरह नहीं चलता, तो बुरी तरह भी नहीं चलता। लेकिन सुरेन्द्र का जी है, जो क्लर्की में नहीं लगेगा। नहीं लगेगा, क्योंकि वह अपनेको जानता है। जानता है कि साहित्य की सेवा वह समुचित रीति से कर सकता है। उसके दिल में, दिमाग में, गाल्सवर्दी, शा, इब्सन, रोमाँरोलाँ आदि चक्कर काटते रहते हैं। उनकी बातों की वह बारीकी बतलाता है और अपनी ओर से भी पाता है कि इन्हीं लोगों की तरह वह साहित्य के सिरजन में लीन रह सकता है। और लीन रहता है। उसने उपन्यास और नाटक लिखे हैं, हर महीने कई मासिक पत्रों में उसकी कहानियाँ छपती हैं। निबन्ध और एकाङ्की उसके खास तौर से अच्छे होते हैं। ऐसी बिगड़ी हालत में भी वह कैसे कला की बातें बना लेता है कि अचम्भा होताहै। और उसका मन और ध्यान साहित्य में ही लीन रहता है। यही वजह है कि वह कोई दूसरा काम नहीं कर सकता। ध्यान भी नहीं दे सकता।

हालत खराब है, सो तो है ही। पर आगे भी अच्छी परिस्थिति आने की कोई उम्मीद नहीं। जहाँ कोई नींव ही नहीं वहाँ इमारत कैसे खड़ी हो सकती है? मगर फिर भी सुरेन्द्र हताश नहीं होता। उसे विश्वास है कि किसी न किसी दिन, वह आदर के साथ पढ़ा जायगा, अभिमान के साथ सिर-आँखों पर लिया जायगा। साहित्यिक आदमी है न; वास्तविक स्थिति को नहीं समझता। उसके पास अच्छी चीजें नहीं, अच्छा घर नहीं, अच्छा भोजन नहीं, रुपये-पैसे भी नहीं। तब वह अजीब तरह अपनी विशेषता रखता है। उसके सिर के बाल काफी बड़े-बड़े हैं। उन्हें वह बड़ी बारीकी से सँवारता है। हाथ में सोने की घड़ी रहती है। सदा रेशमी धोती, रेशमी कुरता और रेशमी चादर के साथ बाहर निकलता है। उसकी स्त्री इस बात से चिढ़ती है। चिढ़ना भी चाहिये, क्योंकि उस बिचारी के पास रेशमी साड़ी की कौन कहे, जो सूती साड़ियाँ हैं वे भी पुरानी हैं और फट-फट गई हैं। प्यारी बच्ची को फ्राक भी नहीं मिलता। लड़का महीनों से शिकायत करता है कि टोपी पहन कर नहीं जाने से मास्टर साहब बिगड़ते हैं। और सुरेन्द्र है सो बारीक रेशमी धोती और भड़कदार रेशमी कुरता पहन कर बाहर निकलता है!

मगर सुरेन्द्र भी ऐसा न निकले तो और आखिर क्या करे। बाहर निकलते ही चारों ओर से नमस्ते के लिए हाथ उठ जाते हैं। लोग, अच्छे-अच्छे लोग, उसे बुलाते हैं, उससे जहाँ-तहाँ मिलते हैं। मिलते हैं और कहते हैं, सुरेन्द्र, आपने जो वह कविता लिखी है सो सचमुच लाजवाब चीज है। सुरेन्द्र सोचता है कि ऐसे-ऐसे लोग मेरे मुलाकाती हैं और मैं अगर फटा-पुराना पहन कर चलूँ तो

आखिर कैसी भद्द होगी। इसलिए अपने भीतर की अपेक्षा वह बाहर की रक्षा करता है। न करे तो और क्या करे। लेखक तो एकबारगी गन्दी नाली का घिनौना कीड़ा नहीं होता। लेखक तो वह चीज है जो मनुष्यता को भी राह बतलाता है। रोजाना लन्द-फन्द और झूठ में डूबे रहनेवाले वकील भी जब सूट-टाई बाँध कर चलते हैं, तो लेखक-जैसी बड़ी चीज चीथड़ा लपेटे, दाँत निपोरे, आँख से आँसू बहाता हुआ निकले तो आखिर कैसा लगेगा। और इसीलिए सुरेन्द्र भी बन-ठन कर चलता है। अपनी मुसीबतों की चर्चा भी किसी से नहीं करता।

और अगर चर्चा भी करे तो उससे कोई फायदा नहीं। लोग इस लायक होते ही नहीं जो समाज-सुधार के नाते विधवाश्रम, अनाथालय की तरह पर कोई लेखकालय खोल दें। लेखकों के लिए तो प्रकाशक हैं। और यह प्रकाशक नाम की जो चीज है, सो बस वैसी ही ढोल-पोल है। खुद तो वे जिन्दगी के सारे मजे उठाते हैं; लेकिन लेखकों को देने के नाम से दाँत निकाल कर मायूसी के साथ हाथ जोड़ देते हैं। कोर्स में किताब मंजूर कराने के पीछे चाहे कई हजार उलट जायँ; लेकिन लेखक को देंगे बस वही, कि जीता रहे और लिखता रहे। ऐसा न हो जाय कि लेखक महाराज भूख-प्यास से मर कर साहित्य की हानि कर डालें। मगर सुरेन्द्र ऐसा लेखक भी नहीं है जो कोर्स की किताबें लिखता हो। वह तो ऊँचे दर्जे के नाटक लिखता है, फर्स्ट क्लास उपन्यास लिखता है, कहानियाँ उसकी सबसे अनोखी होती हैं। उसके दिमाग में वेल्स, कीट्स, पुश्किन, बेलजाक, अनातोले फ्रांस, गोर्की आदि चक्कर काटते रहते हैं। प्रकाशक लोग जो सुरेन्द्र

की ऐसी किताबें छाप देते हैं वही उस पर दया करते हैं। और उसके बाद मौके-बे-मौके दो-चार रुपये दे देते हैं; यह तो और भी उसपर उपकार का बोझ लाद देते हैं। मगर सुरेन्द्र जो है सो है; उसे यह अपनी हालत पसन्द नहीं। प्रकाशकों को वह नालायक समझता है। समझता है कि ये बस यों ही हैं। बैठे-बैठे आलमारियाँ सजाने से शराब की बोतलों की तरह किताबें नहीं बिकतीं। पूरी कोशिश चाहिये। और उसके दिमाग में बर्नार्ड-शा की आमदनी है, एडगर-वैलेस के-से सपने हैं। वे कितना-कितना कमा गये, इसका ठिकाना नहीं। ऐसी हालत में वह कैसे कहे कि उसकी कोई भी कहानी पाँच रुपये से ज्यादा नहीं दे सकती। कहानी और निबन्ध लिखना मुश्किल है न। सवा रुपये में भाव-भरी कविताएँ नहीं हो सकतीं। एक-एक लेख के पीछे कितना पसीना बह जाता है। उस पर भी पाँच रुपये! अब सुरेन्द्र कैसे कहे कि ऐसी अनोखी रचनाओं का मूल्य इतना कम मिलता है। कोई पूछता है तो पाँच की जगह पचीस कह देता है। सो भी डरता-डरता कहता है कि पूछनेवाले कहीं इसे कम न कूत लें।

उसकी इच्छा होती है कि वह दूसरे-दूसरे कामों में लग जाय। भूल जाय कि वह लेखक है। ऐसा वह करने की बार-बार चेष्टा कर चुका है। एक बार उसने कोयले की दूकान खोल दी, दूसरी बार रंग का रोजगार किया। लेकिन कारबार कर लेने से तो कोई रोजगार चल नहीं पड़ता। इसके पीछे उसी तरह की बुद्धि और लगन चाहिये जैसी किसी भी रोजगार के पीछे रहना उचित है। इसीलिए उसके कारबार की दशा भी वैसी ही हुई जैसी उस करोड़पति की हो सकती है जो रोजगार छोड़ कर लेखक बनने की कोशिश

करता हो और सफलता चाहता हो। सुरेन्द्र ने समझ लिया कि उसके लिए बस एक ही काम है—प्रकाशकों का पेट भरना, प्रेस को मैटर सप्लाई करना। इसके बदले में अगर कुछ मिल जाय तो ठीक है, और नहीं तो लाख सिर पटकने से भी दूसरा काम नहीं हो सकता।

तो भी तो सन्तोष नहीं। घर है, किराया चाहिये ही। बाल-बच्चे हैं, स्त्री है, सब हैं, सबकी जरूरतें हैं। जरूरतें रोजरोज की हैं, हर घड़ी की हैं, इन सबको वह कैसे पूरा करे और इसके बाद वे बड़े-बड़े सपने। साहित्य और कला की बारीकियाँ उनके उलझाव और सुलझाव। ईट्स, बुनियन, एच० जी० वेल्स, टालस्टाय, चेखव और कौन-कौन। सच पूछिये तो सुरेन्द्र का दिमाग खुराफात का खजाना है। वह सब जानता है मगर छः नहीं जानता। अपनी आँखों के सामने तो वह देखता है कि लोग खरीद कर किताबें नहीं पढ़ते। प्रकाशक अच्छी किताबों के लिए हौसला नहीं दिखलाते। सब कुछ अजब बेढङ्गा-सा है। और उस पर भी सुरेन्द्र सोचा करता है बड़ी-बड़ी बातें, बड़े-बड़े प्लाट। सुरेन्द्र-जैसा भला आदमी सब कुछ जानता है, मगर यही नहीं जानता कि उसका यह देश भारतवर्ष है, इङ्गलैण्ड, अमेरिका या जापान नहीं है। जाने भी अगर तो जान कर ही क्या होगा। अनुभव करने और लिखने के अतिरिक्त उसमें और कोई विशेषता ही नहीं है।

× × ×

कल उसने अपने एक नाटक की आलोचना देखी थी। उसका विश्वास था कि साहित्य में वह एक युगान्तर की सृष्टि कर रहा है। इसीलिए किताब जा परिपाटी छोड़ कर अलग हो गई। उसके बाद उसने

जो आलोचना पढ़ी तो उसका जी जल गया। कमबख्तों को आलोचक होने का सर्टिफिकेट कौन देता है। जिनके मस्तिष्क में अभी तक सत्रहवीं सदी के खयालात चक्कर काट रहे हैं, जिन्हें पता भी नहीं कि दुनिया कहाँ से कहाँ पहुँच गई; ऐसे आदमी को चाहिये कि वे अपना सूरदास और केशवदास करते रहें। नये सहित्य के पीछे लट्ठ लेकर क्या पड़ते हैं। जो वे जानते नहीं उसे बोलना बेकार है। सुरेन्द्र की आलोचना बड़े पुरातन दृष्टिकोण से लिखी गई थी। किताब को अच्छा नहीं कहा गया था। अच्छा जो नहीं कहा गया था उसके लिये कोई तर्क नहीं था। बस मान लिया गया था कि नाटक अच्छा नहीं है। सुरेन्द्र सोचने लगा, खून और पसीना एक करके भूख-प्यास की विपरीत परिस्थितियों में बैठकर नाटक लिखा गया है। आजाद खयालों को लेकर एक नई चीज भेंट दी गई है। उसके लिये नगदी पुरस्कार तो प्रकाशक की ओर से पैंतीस रुपये मिले थे, उसके बाद एक वयोवृद्ध आलोचक महोदय की ओर से पुरस्कार मिला पैंतीस गंडे ओछे शब्द। सुरेन्द्र का जी छोटा हो गया। रात उसे बड़ी देर तक नींद नहीं आई।

बड़ी देर से नींद आई तो बड़ी देर से टूटी भी। आठ से भी ज्यादा बज गया था। चैत महीने की चमकीली धूप चारों ओर छितरा गई थी। हवा में गर्मी थी। चारों ओर जीवनप्रवाह और कर्म प्रवाह का स्रोत बह चला था। सुरेन्द्र उठ कर बाहर निकला। दँतवन लेकर टहलता हुआ वह सोचने लगा कि आज वह क्या लिखेगा। बहुत दिनों से कहानी का एक प्लाट उसके दिमाग में आ रहा था। वह सोचता था कि सपना तो सपना है ही; लेकिन यह जो कुछ सामने है, अनु-

भवगम्य है, बिल्कुल प्रत्यक्ष है, उसमें वास्तविक तथ्य कितना है ? एक वैज्ञानिक नित्य नये-नये आविष्कार करके दुनिया को चक्कर में डाल देता है। उसके आविष्कारों से संसार को असीम लाभ होता है। धन से उसका घर और सफलता से उसका दिल भर जाता है। फिर भी वह अपने-आपमें एक सूनेपन का अनुभव करता है। इस सूनेपन की रिक्तता से ऊब कर वह ध्यान बाँटने को आविष्कारों में उलझता जाता है और छ महीने की सफलता उसे छ घण्टे में ही मिलने लगती है। सफलता की ऊँची चोटी पर पहुँच कर भी उसे सन्तुष्टि नहीं मिलती। वह आत्महत्या करके मरता है। मरते समय वह एक पत्र छोड़ जाता है। पत्र में उसके अन्तिम वाक्य हैं—मैंने कुछ नहीं जाना, कुछ नहीं किया !...

यही प्लाट उसके दिमाग में कई दिनों से आ रहा था। सोचा कि आज वह यही कहानी लिखेगा। उस वैज्ञानिक का नाम होगा विनयकुमार।

कि इसी समय उसके दरवाजे पर एक चाकलेट रंग की डॉज गाड़ी आकर खड़ी हो गई। इस गाड़ी को वह पहचानता था, इसलिये इसे देख कर उसे खुशी हुई। शोफर ने बाहर सिर निकाल कर कहा—हुजूर को मेम साहब बुलाती हैं।

सुरेन्द्र ने व्यस्तता से जवाब दिया—ठहरो, मैं फौरन आया।

और घर के अन्दर आकर वह कपड़े बदलने लगा

सुरेन्द्र की स्त्री का नाम था माया। उसके रूप के वर्णन से पाठकों को कोई तृप्ति नहीं मिलेगी, क्योंकि वह चार बच्चों की माँ थी और उसकी अवस्था पैंतीस वर्षों से शायद कुछ आगे ही बढ़ गई थी। रंग

भी गोरा नहीं था। ऊपर से गरीबी के थपेड़े। हौसले वाले दिन निकल गये थे। वह अपने को, अपने पति को और अपनी परिस्थिति को ठीक-ठीक जानती थी। उसने बाहर मोटर देखी और अन्दर अपने पति को व्यस्त देखा। बोली—आज फिर वहीं चले ?

'जा रहा हूँ !'—सुरेन्द्र ने कहा। ऐसा कहा कि जाना जैसे ठीक नहीं है और उसके साथ उपेक्षा भी ठीक नहीं है। बोला—बुलाती हैं; न जाना ठीक नहीं होगा।

माया बोली—आज कुछ लिखते तो पैसे आते। इधर एक महीने से तुमने कुछ लिखा ही नहीं। भास्कर की स्कूलफीस भी तो देनी होगी।

जवाब में सुरेन्द्र ने कहा—चला आऊँगा जल्दी। अब बुला भेजा है तो न जाना अच्छा नहीं लगेगा।

माया ने कहा—मैं कहती थी, आज तुम कुछ लिखते।

सुरेन्द्र यह सुन कर मुस्कुराया। लिखने की इच्छा होने से ही तो आदमी लिख नहीं सकता। इसके लिये 'मूड' चाहिये, वातावरण चाहिये। उसके पास बड़े-बड़े लेखकों के दृष्टान्त थे। रचना-शक्ति की, मजदूरों की परिश्रमवाली शक्ति से, तुलना करना बड़ा अजब-सा है। अगर मजदूर बीमार है, सुस्त पड़ा है तो उससे काम नहीं हो सकता। इसी तरह दिमाग की भी हालत है। अगर रचना की ओर से भटक गया है तो चाहे लाख कोशिश कीजिये, एक पंक्ति भी ठीक नहीं लिखी जायगी। मगर माया से बहस कौन करे। उसे तो सत्साहित्य की वैसी चिन्ता नहीं। उसे तो यही चिन्ता है कि अगर भास्कर की स्कूल-फीस अदा नहीं की गई तो उसका नाम कट जायगा।

सुरेन्द्र मुस्कुराता हुआ बाहर निकला और मोटर पर बैठ गया।

× × ×

गणपति बाबू आइ० सी० एस० हैं। आइ० सी० एस० हैं, लेकिन भारत को भारत ही देखना चाहते हैं। विलायत की तरह डिसिप्लिन, वक्त की पाबन्दी आदि यहाँ वैसी नहीं खोजते। विलायत से लौटे दो वर्ष भी नहीं हुए कि डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट हो गये। साल भर से इसी शहर में रहते हैं। श्रीमती शीला इनकी धर्मपत्नी हैं। ये विलायत में पढ़ती थीं, तब ही दोनों में प्रेम हो गया। दोनों की वहीं शादी भी हुई। यही शीलादेवी वह मेमसाहेब थीं जिसका जिक्र सुरेन्द्र से ड्राइवर ने किया था। शीला को साहित्य से बहुत शौक था। कविता पढ़ने और कहानी लिखने से उसकी खासी दिलचस्पी थी। उसकी कहानियों के पात्र और वायुमंडल यूनाइटेड स्टेट्स अमेरिका के होते थे। शीला का जन्म वहीं हुआ था। वहीं के वातावरण में वह पाली गई और बढ़ी। किसी समय उसके दादा अमेरिका गये थे और वहीं बस गये। उनलोगों का लकड़ी का व्यवसाय था। बाहर अशुद्ध अँगरेजी और अन्दर ठेठ पंजाबी बोली जाती थी। शीला का हिन्दी से प्रायः सरोकार ही न रहा। जब हिन्दुस्तान आई तब हिन्दी से साबका पड़ा। जब सीखती होगी तो न जाने किस तरह सीखती होगी; लेकिन अब तो वह लिखती भी है। जो लिखती है उसमें एकवचन बहुवचन आदि का विशेष भेद नहीं रखती। इस तरह व्याकरण की गलतियाँ तो थीं ही, भाव और विचारों के सुधार के लिये भी किसी खास जानकार की जरूरत थी। सो इसीलिये वह सुरेन्द्र को बुलाती थी।

जब गाड़ी अहाते के अन्दर घुसी तो एक सिपाही ने बड़े तपाक से सलामी दागी। बंगला कुछ खास वैसा सुन्दर और अप-टु-डेट नहीं था; लेकिन वहाँ की फुलवारी बड़ी अच्छी, देखने के लायक थी।

किनारे-किनारे डाइलिया की कतारें, बीच-बीच में मैगनोलिया के फूल, आसपास बैजन्ती की क्यारियाँ। एक जगह नकली पहाड़-सा बना हुआ था। उसीके नजदीक बड़ी तेजी से फव्वारा छूट रहा था। वहीं पेड़ों की छाया तले शीला आरामकुर्सी पर बैठी हुई किताब पढ़ रही थी। सुरेन्द्र को देख उठ कर खड़ी हो गई और मुस्कुरा कर नमस्ते को हाथ जोड़ दिये।

शीला की उम्र तेईस वर्ष से ज्यादा नहीं होगी। एकहरा बदन। देखने में बड़ी अच्छी थी। आँखों पर चश्मा लगाती थी। चेहरा बहुत ही सुन्दर था। जब वह मुस्कुराने लगती थी तो मालूम होता था जैसे कोई गुलाब का फूल खिला जा रहा हो।

शीला की मुस्कान-भरी अगवानी और विनम्र नमस्ते से सुरेन्द्र ने गर्व का अनुभव किया। एक आइ० सी० एस० की बीवी, खास तौर से विलायत में शिक्षा पाई हुई औरत, सुरेन्द्र का ऐसा आदर कर रही है। दुनिया की नजरों में सुरेन्द्र की हस्ती ही क्या है। अगर ठीक-ठीक हिसाब जोड़ा जाय तो उसकी आमदनी का औसत पूरे पच्चीस भी नहीं पड़ता।

शीला ने कहा—रात मैं आपका 'विराम चिह्न' पढ़ रही थी। गजब का नाटक है। आप 'माइल स्टोन' के नाम से उसका अँगरेजी अनुवाद कर दीजिये।

जवाब में सुरेन्द्र केवल 'धन्यवाद' कह कर मुस्कुराया। यह तर्क उसकी समझ में आता ही नहीं था कि जो भलीभाँति हिन्दी में लिख सकता है वह उसी तरह अँगरेजी में लिख सकेगा। अगर हिन्दी में वह रोजाना तीन पेज के हिसाब से लिख सकता है तो

अँगरेजी में लिखने का अभ्यास करने पर उसे प्रति दिन आधे या चौथाई पृष्ठ के हिसाब से चलना पड़ेगा। और अभ्यास भी कैसे करे; पेट तो कोई पत्थर नहीं है जो उसे जैसे छोड़ दिया, जहाँ छोड़ दिया, उसी तरह वहीं पड़ा रहेगा। अजीब बात है। बेतुकी। सुरेन्द्र इस पर केवल मुस्कुराया।

और उसके बाद बहुत-सी बातें चल पड़ीं। साहित्य की बातें, कला की बातें, बड़े-बड़े कलाकारों की बातें। समय किस तरह निकला जाता था, इसका न कोई पता था और न हिसाब। वहीं जलपान आया, चाय आई। शीला बड़े आग्रह, बड़ी विनय और बड़ी श्रद्धा से उसकी एक-एक खातिर कर रही थी। बहुत-सी बातें चलीं। रूसी लेखक एण्टन-चेखव की एक कहानी से उठी हुई बात शीला के जीवन की एक घटना पर रुकी। उसके बाद उसी सिलसिले में शीला अपने बारे में कह गई कि कैसे उसने पहले-पहल गणपति को देखा, कैसे दोनों का आपस में प्रेम हुआ। यह सब वह सरल-निर्मल मन से कह गई। कहते-कहते वह जरा कुछ प्रगल्भ भी हो गई। तकल्लुफ का वैसा कुछ ध्यान नहीं रहा। एकाएक वह पूछ बैठी—क्या आपने भी किसी से प्रेम किया है ?

प्रेम ! सुरेन्द्र का रोआँ गनगना उठा। उसके दिल और दिमाग में एक लहर-सी आती जान पड़ी। प्रेम की उसने सैकड़ों कहानियाँ और कविताएं लिखी हैं; लेकिन प्रेम तो उसने किसी स्त्री से नहीं किया। मगर जब तक प्रेम का सच्चा भाव नहीं आवे तब तक प्रेम की वास्तविक कविता भी नहीं हो सकती। न जाने उसने किस काल्पनिक प्रेयसी को कितना प्यार किया है। उसका रूप नहीं, आकार नहीं; जो कुछ है

सो केवल भाव। उसी भाव की प्रेयसी को उसने अपने जीवन में पाया जो न है और न हो सकती है। और जैसी उसकी आमदनी उन्नीस-बीस की है, ऐसी अवस्था में अगर वह किसी प्रेम करने लायक स्त्री से प्रेम कर लेता तो !.....सुरेन्द्र का रोआँ गनगना उठा।

तो भी उसने मुस्कुराने की विफल चेष्टा की, और बोला—देवी, मैं लेखक हूँ। खुद प्रेम करने की बात मेरे दिमाग में अबतक नहीं आई। मेरी जिन्दगी एक महास्मशान की तरह सूनी है। उसी में जी आया हूँ, वहीं मरूँगा।.....

शीला ने अरचज से उसकी ओर देखा। इस आदमी में प्रेम नहीं तो यह प्रेम की अनुभूति पाता है कहाँ से ?

कुछ ठहर कर सुरेन्द्र ने कहा—.....विद्यार्थी-जीवन समाप्त होने के बाद जिस औरत से मेरी शादी हुई उसे मैंने न देखा था और न जाना था। उसके स्वभाव, रुचि-अरुचि आदि से मेरा कोई भी परिचय नहीं था। लेकिन अब मैं मानता हूँ कि एक ही साथ एक ही परिस्थिति में रहने पर आदमी में आपस का प्रेम हो ही जाता है। कदाचित् यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।.....

और तब सुरेन्द्र सचमुच मुस्कुराया और बोला—जिस चीज को रोमान्स कहते हैं वह मेरी जिन्दगी से बहुत दूर की चीज है। मैं उस लायक ही नहीं हूँ।

शीला ने अवाक् हो आँखें फाड़ कर उसकी ओर देखा।

धूप तेज हो गई थी। हवा में गर्मी थी। उस झाड़ी के आसपास भी ताप मालूम हो रहा था। दोनों अपनी बातों में तल्लीन थे। किसी

ओर उनका ध्यान नहीं था। नौकर आकर कब टेबिल-फैन लगा गया, यह भी उन्हें मालूम नहीं हुआ।

× × ×

सुरेन्द्र वहाँ से ग्यारह के करीब लौटा। दरवाजे पर कार के खड़ी होते ही उसका कलेजा धक-से हो गया। वहाँ घर का मालिक किराया माँगने को बैठा हुआ था। गाड़ी से उतरते ही उसने कहा—बाबूजी, आज पाँच महीने हो गये। आखिर क्या आप कयामत के दिन देंगे ?

सुरेन्द्र ने सोचा, अबकी का उपन्यास समाप्त होने पर पाई-पाई चुकता किया जा सकता है। अगर फड़कते हुए प्रेम का कोई प्लाट रहे तो उपन्यास लोग चाव से पढ़ेंगे। अच्छी चीजों को लोग पढ़ते भी नहीं और लिखने में वक्त भी बहुत ज्यादा लग जाता है। उसने दिलासा देकर कहा—बड़ी खर्चदारी है साहब, मुझे बस पन्द्रह दिन की फुरसत दीजिये।

वह आदमी कुढ़ गया। एक बार तीखी निगाहों से देख कर भुनभुनाता हुआ सुरेन्द्र को बुरा-भला कहता वहाँ से चला गया।

सुरेन्द्र अन्दर गया और अपने कपड़े उतारने लगा। कमरे के अन्दर उसने बड़े लड़के भास्कर को देखा। उसे आश्चर्य हुआ, क्योंकि अभी उसके स्कूल का वक्त था। डाँट कर पूछा—आज तुम स्कूल नहीं गये ?

भास्कर सहम कर धीरे से बोला—माँ से वार-फंड के लिये चंदा माँगने आया हूँ।

उसकी स्त्री वहीं बैठी हुई 'विराम चिह्न' पढ़ रही थी। सुरेन्द्र ने कहा—माया, इसे पैसे क्यों नहीं दे देती ?

माया ने जलती हुई निगाहें अपने पति की ओर उठाईं। चिड़-चिड़ा कर बोली--दूँ कहाँ से। आज तो खाना तक नहीं बना है। लड़के भूखे स्कूल गये, माँ भूखी वहाँ सो रही हैं। पैसे हों जब तो आखिर दिये जायँ। मैंने घर में कोई टकसाल कायम नहीं की है जो तुम्हें, इसे, उन्हें, हर किसी को खुश कर सकूँ।

सुरेन्द्र ने बिल्कुल पस्त हो कर कहा—आज सब भूखे रह गये!

उसने चुपचाप अपने कपड़े उतार दिये। उसे भूख लग रही थी; लेकिन उसने अनुभव किया कि उसकी स्त्री, उसकी बुढ़िया माँ, उसके छोटे-छोटे लड़के, सभी तो भूखे हैं। वह कितनी बड़ी व्यर्थता लिये भारतवर्ष की इस महाविराट् व्यर्थता के बीच चक्कर काट रहा है। उसने साहित्य की कितनी बड़ी सेवा की; लेकिन इसके बदले में उसे जनता ने प्रकाशकों ने, भूखा रखा। और केवल उसे ही नहीं, उसकी बीवी-बच्चे सबको। यही भारतवर्ष की समुचित संस्कृति, सुरुचि और सभ्यता का दिव्य इतिहास है जिसका ढिंढोरा यूरप, अमेरिका, सब जगह पीटा जाता है। सुरेन्द्र की आँखों में आँसू आ गये। अपने खोखले जीवन के इन पैंतालीस वर्षों में उसने आज तक क्या पाया? व्यर्थ का ढकोसला, दिखलावे का आदर और सम्मान। इन्हें लेकर वह क्या करे? वह तो अपने बाल-बच्चों के साथ भूखों मर रहा है। आज यह देश बर्बरता की ओर जा रहा है या सुरुचि और संस्कृति के विकास की ओर?

वह वयस्क लेखक अपने कमरे में अकेला घुस गया और किवाड़ बन्द करके रुलाई के मारे फफकने लगा। आज उसका दिल बच्चों की तरह कातर हो रहा था। उसका जी हो रहा था कि वह इतना रोये,

इतना रोये कि उसके आँसू के अन्दर सारी दुनिया डूब कर नष्ट हो जाय। मगर तुरत ही उसने आँसू पोंछ लिये और कलम लेकर लिखने बैठ गया। आखिर जीना भी तो है। वह लेखक ही पैदा हुआ तो और किस तरह पेट चलावेगा। तब वह बड़ी जल्दी-जल्दी एक कहानी लिखने लगा। पंजाबमेल तेज रफ्तार से जा रही है। वहाँ सेकंड क्लास के डब्बे में एक युवक और एक तरुणी। दोनों की निगाहें चार होती हैं। दिल से दिल मिलते हैं। अगर दोनों को सुखान्त मिलन के बदले दुखान्त विरह के बन्धन में बाँधा जाय तो पाठक और भी प्रभावित होंगे। ऐसी कहानियाँ अधकचरे नौजवान और नवयुवतियाँ पढ़ती हैं। इससे उनके अनुभवहीन हृदय पर तीव्रता से रोमांस का प्रभाव पड़ता है। ऐसा आश्चर्य, ऐसे सुख-दुख वे अपने जीवन में भी खोजने लगते हैं और अपने सम्पूर्ण जीवन को जैसा-तैसा बना लेते हैं।

सुरेन्द्र अपनी रचना के प्रभाव से बेखबर था। उसे जल्दी थी। ऐसी कहानियाँ बड़ी आसानी से लिखी जा सकती हैं।

चन्द्रगुप्त की तलवार

गर्मी से हैरान-परेशान होकर छत पर पहुँचा। वहाँ भी वही किस्सा था। अपने मन को बार-बार समझाता था कि गर्मी कम है। यद्यपि वहाँ की हवा ठण्ढी नहीं थी, तथापि कल्पना किये जाता था कि शीतल-सुखद बयार का झोंका बस अब इधर ही लपका हुआ चला आ रहा है।

मगर ठण्ढी हवा का झोंका तो नहीं आया, दरवाजे पर एक

'बेबी आस्टिन' आकर खड़ी हो गई। यह संसार का महान् आश्चर्य था। मुझ-जैसे साधारण व्यक्ति बच्चूलाल के यहाँ मोटर पर चढ़कर कौन आया। इतने में देखता हूँ कि मोटर का दरवाजा खुला और उसमें से...अरे यह क्या...यदि जुबैदा खातून के मूँछें निकल आतीं तब भी मुझे उतना आश्चर्य नहीं होता जितना अचम्भा उस गाड़ी से पंडित रुद्राक्ष मिश्र को निकलते देख कर हुआ।

लेकिन पण्डित जी मोटर से उतरने के बाद सीधे मेरे घर में नहीं घुसे। गाड़ी से उतर कर उन्होंने एक बार उस मोटर की प्रदक्षिणा की। घूम-घूमकर उसके चारों टायरों का निरीक्षण किया। खूब गौर करके देखने लगे कि कहीं घिस तो नहीं गया है। यदि कुछ घिसा-घिसाया भी है तो उसका परिमाण कितना है। उसके बाद ड्राइवर को पुकारा—"अजी ड्राइवर...नहीं-नहीं, शोफर !"

"जी !" उसने कहा।

पंडित जी बोले—"देखो, मैं इस मकान के बाबू से मिलने जाता हूँ। तब तक टङ्की के अन्दर डंडा लगा कर देखो कि घर से यहाँ तक आने में कितना पेट्रोल खर्च हुआ। पेट्रोल का तुम्हें पूरा हिसाब रखना पड़ेगा कि एक घंटे में कितना पेट्रोल खर्च होता है, एक मील में कितना लगता है और घर से यहाँ तक आने में कितना सूखता है।

ड्राइवर ने कहा—"घर से इतनी दूर आने में पेट्रोल नहीं देखा जाता।"

पंडित जी बोले—"मगर तुम्हारा बेकार बैठना भी तो ठीक नहीं। कुछ न हो तो हवा ही भरना शुरू कर दो।"

ड्राइवर ने कहा—"हवा तो गाड़ी में बिलकुल कंप्लीट है।"

पंडित जी कुछ चिढ़ कर बोले--"लेकिन फिर भी तुम्हारा बेकार बैठे रहना ठीक नहीं है। मैं अन्दर जाता हूँ, तब तक तुम गाड़ी का 'मोबिल आयल' बदल दो।"

ड्राइवर ने कहा--"मोबिल आयल तो एक हजार मील चलने के बाद बदला जाता है।"

पंडित जी ने दाँत पीस कर कहा--"इससे तो यही मालूम होता है कि तुम बैठे ही रहना चाहते हो। इतमीनान से बैठो, मेरा क्या। इसीलिए लोग अपने ड्राइवर को निकम्मा कहते हैं। अच्छा तो बैठ जाओ गाड़ी पर। देखते रहो कि गाड़ी पर कोई बैठने नहीं पावे। अगर कोई लड़का-बड़का आकर मोटर पर बैठ जाय तो कस कर चाँटा मारना। कह देना, पण्डित रुद्राक्ष मिश्र की गाड़ी है।"

फिर पण्डित जी लपके हुए मेरे दरवाजे पर पहुँचे। बड़े जोर की हाँक लगाई--"अजी बच्चू, घर पर हो जी ?"

छत पर से सारा माजरा देख ही चुका था। लपका हुआ नीचे आया। कमरे का दरवाजा खोला और पंडितजी ने एक विशाल कुरसी पर अपना कलेवर स्थापित कर दिया। आज तो उनकी हुलिया ही बदली हुई थी। अपने भूधराकार शरीर पर साटन का अचकन चढ़ाये हुए थे। सिर पर छींट की पगड़ी शोभायमान थी। पैरों में बढ़िया जूता और रेशमी मोजा। बोले--"अजी बच्चू, क्या बतलावें, आज-कल फुरसत कम रहती है। इसीलिये आना-जाना नहीं होता। काम की अधिकता से एक गाड़ी भी खरीद ली है। वह देखो, बाहर खड़ी है। है न ?"

मैंने हैरत से कहा--"पण्डितजी, मेरा तो खयाल कुछ दूसरा

था। मैंने समझा था कि गाड़ी दूसरे किसी की है। माँग-जाँच कर आप मुझ पर रोब जमाने लगे हैं।"

"अजी, नहीं" पण्डितजी ने कहा—"यह तो बिलकुल ही हमारी गाड़ी है। इसमें लेशमात्र भी किसी का कुछ नहीं है। इस गाड़ी के पहिये से लेकर मस्तूल तक बस हमारा ही हमारा है। इस पर बैठ कर मैं चाहे जहाँ जा सकता हूँ, चाहे जिसके यहाँ घंटों बैठ सकता हूँ। तुम्हें भी अगर सिनेमा-सरकस जाने की जरूरत हो, तो मँगवा लेना। समझो कि अपनी ही मोटर है।"

"मगर आपको इतना पैसा कहाँ से मिल गया ?" मैंने पूछा।

"पैसा...!" पण्डितजी ने कहा—"सो भई, पैसे की न पूछो। इसका एक किस्सा है। वह किस्सा ऐसा है कि एक बार चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को बुलाया..."

"लेकिन चन्द्रगुप्त और चाणक्य से और इस बेबी आस्टिन से क्या सरोकार है ?" मैंने चकित होकर पूछा।

"सरोकार ?—बिलकुल सीधा सरोकार है !" पंडितजी ने कहा—"वे तो चन्द्रगुप्त और चाणक्य ही थे जिन्होंने हमें यह मोटर दिलाई है। इस मोटर के पुर्जे-पुर्जे से उन दोनों का सरोकार है। यदि चाणक्य और चन्द्रगुप्त नहीं होते तो मेरे पास न यह मोटर होती और न मैं ऐसा बढ़िया अचकन ही सिलवा सकता। इसलिये इस मोटर का चाणक्य-चन्द्रगुप्त से बिलकुल सीधा सरोकार है।"

पण्डितजी ने बात को कुछ इस आत्मविश्वास से कहा कि मुझे रत्ती-भर भी संदेह नहीं रहा। विश्वास हो गया कि चन्द्रगुप्त ने ही

इनके लिए मोटर खरीद दी होगी ! आश्चर्य से अवाक् होकर एकटक पंडितजी की ओर देखने लगा।

पंडितजी ने कहा—सुनो, एक बार की बात है कि चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कहा—आओ, तुम्हें राजनीति की शिक्षा दें।

"यह कई हजार वर्ष पहले की कथा है। उस समय कालिदास भी नहीं हुए थे। तब वराहमिहिर और वररुचि ने भी जन्म नहीं लिया था। हाँ, बुद्धदेव और महावीर ने पैदा होकर लोगों को खटमल और मच्छर मारने से मना कर दिया था। ज्यादा तङ्ग करने पर केवल चूहे ही मारे जाते थे और युद्ध किया जाता था। यह उस समय की बात है जब चन्द्रगुप्त बिलकुल छोकरा था। चढ़ती हुई उम्र थी। मसें भीन रही थीं। उस समय वह उन्नीस-बीस साल का रहा होगा। चाणक्य की बात सुनते ही चन्द्रगुप्त के रोंगटे खड़े हो गये। फिर वह स्वयं भी उठकर खड़ा हो गया और दर्प के साथ बोला—चलिये !

चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कहा—मेरा विचार है कि तुम्हें ले चलकर इस बार कुछ संसार की वास्तविक राजनीति सिखला दूँ। तैयार हो न ?

चन्द्रगुप्त भला तैयार क्यों न हो—प्रसन्नता-पुलकित गद्गद वाणी से बोला—गुरुवर, जिस प्रकार तरुवर केहरीनाद श्रवण करने को तत्पर होता है, सैन्य-व्यूह सेनापति की आज्ञा श्रवण करने को प्रस्तुत होता है, और जिस प्रकार महाभैरव अट्टहास करके भीषण हुंकार करने के लिए तैयार रहते हैं, जिस प्रकार देवादिदेव महादेव दोनों भुजाओं को उठाकर और कमर मटकाकर ताण्डव नृत्य के लिये

तैयार होते हैं और जिस प्रकार महाकाली···महाकाली···जिस प्रकार महाकाली···महाकाली···

हाँ तो कहने का मतलब यह है कि चन्द्रगुप्त बड़ी वीरता के साथ अपने गुरु की आज्ञा के अनुसार चलने को तैयार हो गया। दोनों चल पड़े। आगे-आगे चन्द्रगुप्त, पीछे-पीछे चाणक्य। ऐसा मालूम होता था मानों दिन के बाद रात जा रही हो। सो इस प्रकार की बड़ी अच्छी उपमा बनाकर वे लोग जाने लगे। चलते-चलते ग्राम, द्रोण, वन-वनान्त आदि बहुत-सी जगहों को पार करके वे लोग एक जमींदार के यहाँ पहुँचे। इतिहास के ग्रन्थ के समान मोटा जमींदार इन दोनों को देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने देखा कि यह ब्राह्मण उपनिषद् के समान दुबला-पतला है और छोकरा गायत्री मन्त्र के समान छोटा है। इन्हें अगर नौकर रख लिया जाय तो ये खाएँगे कम और काम करेंगे ज्यादा। मगर जब चाणक्य ने अपना और चन्द्रगुप्त का पूर्ण परिचय दिया तो जमींदार महोदय का हौसला हवा हो गया। उसने बतलाया कि यह छोकरा मगध के साम्राज्य से युद्ध छेड़ेगा। यह राजा नन्द के ऊपर चढ़ाई करेगा और उसकी सेना से खूब लड़ेगा। लड़ते-लड़ते यह पूरी तरह नन्द को परास्त करेगा। नन्द को परास्त करने के बाद यह मगध को शान्त करेगा। शान्त करने के बाद यह राजगद्दी पर बैठेगा। उस समय बड़ा भारी उत्सव मनाया जायगा। ढोल, भेरी और पणव बजेंगे। बड़ी भारी शंखध्वनि होगी। खूब हंगामा होगा। उस राजतिलक के समय यह चन्द्रगुप्त तुम्हारा नाम लेकर घोषणा करेगा कि अमुक गाँव का अमुक जमींदार सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र घोषित किया जाता है और उसे एक स्वतन्त्र सम्राट् स्वीकार

किया जाता है। इसलिये मेरी राय है कि तुम चन्द्रगुप्त से संधि कर लो।

यह हेतु-हेतुमद्भूत-जैसी बात सुनकर वह जमींदार परम पुलकित हो गया। प्रसन्न होकर बोला—श्रीमान् से संधि करने के लिए तो मैं बिलकुल तैयार हूँ; लेकिन मुझे यह बतलाइये कि संधि करने के बाद मुझे क्या करना होगा ?

चाणक्य ने गम्भीर होकर कहा—सम्राट चन्द्रगुप्त बड़े ही महत्त्व-पूर्ण कार्य को लेकर तुम्हारे पास आये हैं। इनके साथ कोई ऐसा आदमी नहीं है जिसका ये विश्वास कर सकें। इसलिये सम्राट् चन्द्रगुप्त तुम्हें अपना कोषाध्यक्ष निर्वाचित करते हैं। आज शाम को ये तुम्हें तीन टोकरी हीरा, दस टोकरी पुखराज और नब्बे सोने की मुगदर देंगे। इन्हीं चीजों के साथ एक नगाड़ा में नीलम भी भरा हुआ है। जिस गुफा में ये चीजें पड़ी हुई हैं, तुम्हें वह दिखला दी जायगी। उसके बाद उस कोष को बढ़ाना और सामरिक कार्यों में लगाना तुम्हारा फर्ज होगा। अगर तुम उस कोष में अपना द्रव्य लगाओगे, तो युद्ध के बाद जिस प्रकार तुम्हें सर्वतंत्र-स्वतंत्र नरेश घोषित किया जायेगा उसी प्रकार तुम्हारे धन को भी सहस्रगुना बढ़ा दिया जायगा।"

जैसे ? जमींदार ने प्रश्न किया।

चाणक्य ने कहा—जैसे तुमने कोष में तीन हीरा प्रदान किया तो उसके बदले में तुम्हें तीन सहस्र तीन सौ तीन हीरे दिये जायँगे। इसके अलावा चन्द्रगुप्त बड़े आदर के साथ तुम्हारे कन्धे को थपथपाएँगे।

वह जमींदार प्रसन्नता से उछल पड़ा—"मैं आपको तीस हीरे दूँगा—तीस—और तमाम धन का कोषाध्यक्ष भी हो जाऊँगा—हाँ!"

चाणक्य ने कहा—"तो अपने तीसों हीरे ले लो और चलो तुम्हें वह कोष दिखला ही दिया जाय। अभी से ही तुम कोष-मंत्री हो गये।"

वह जमींदार अपने हीरों को लेकर चल पड़ा। जाते-जाते वे लोग एक पहाड़ के समीप पहुँचे। वहाँ पर एक विशाल चट्टान को दिखलाकर चाणक्य ने उससे कहा—"उस चट्टान को हटाओ और सारे कोष का जिम्मा ले लो।"

मगर चट्टान देखते ही जमींदार के होश उड़ गये। परेशान होकर पूछा—"मुझसे भला यह शिला हिल भी सकती है?"

चाणक्य ने कहा—"अजी चन्द्रगुप्त तो एक ही धक्के में इस शिलाखण्ड को लुढ़का देते हैं। तुम भी जोर लगाओ और हीरा-पुखराज आदि का जिम्मा ले लो।"

उत्साह पाकर वह जमींदार आगे बढ़ा और चट्टान को हिलाने लगा। चट्टान अचल है और ये हजरत बस जोर लगाये चले जाते हैं। पसीने से लथपथ। काँखते हैं और जोर मारे जाते हैं। उधर चट्टान है कि न टस होती है, न मस होती है।

चन्द्रगुप्त ने इस दृश्य को देखा तो हँसते हुए बोले—"बेचारा व्यर्थ ही परिश्रम कर रहा है!"

चाणक्य ने आँखें तरेर कर कहा—"यदि तुम यह जानते हो तो उसे मुक्ति क्यों नहीं दे देते?"

"ओह, गुरुदेव की यह आज्ञा है?"

चन्द्रगुप्त की आँखें हिंसा से चमक उठीं।

उसके बाद वह तलवार निकाल कर टूट पड़ा और तेजी से जमींदार का सिर काट दिया। चाणक्य ने उसकी गाँठ से हीरे निकाल लिये और हँसते हुए कहा—"यही असली राजनीति है। लम्बा-चौड़ा वादा करो, लेकिन उसे कभी पूरा न करो। जो सहायता दे, उसी का सर्वनाश कर दो। जिसे धन देने को कहो उसी का धन लूट लो। इतनी थोड़ी-सी राजनीति अगर तुम सीख सको तो आगे चलकर आदमी हो जाओगे।"

चन्द्रगुप्त अपने गुरु की बात सुनकर स्तंभित हो गया। पाँच मिनट नहीं-नहीं, पाँच निमिष वह सोचता रहा और बोला—"गुरुदेव, अगर यही राजनीति है तो ऐसी राजनीति से मैं बाज आता हूँ।"

इसके बाद उसने अपनी तलवार घुमाकर न मालूम किधर फेंक दी। चाणक्य इस पर बिगड़ने लगा। डाँटकर कहा—"बेहूदा है, नालायक है, निकम्मा है···"

इस तरह की भाँति-भाँति की फटकार सुनकर चन्द्रगुप्त को चेत हुआ। वह राजी हो गया। लेकिन उसकी तलवार बहुत खोजने पर भी नहीं मिली। उस समय रात हो आई थी। अमावस्या की रात। गुरु-चेला बड़ी देर तक तलवार खोजते रहे। उसके बाद निराश होकर वापस लौट गये।

"संयोग की बात देखो," पंडित रुद्राक्ष मिश्र ने कहा—"वह तलवार मेरे हाथ लग गई। उस पर उस समय की लिपि में चन्द्रगुप्त का नाम खुदा हुआ था। मैंने उस तलवार को इमली से रगड़-रगड़कर साफ किया। फिर उस तलवार को दस हजार में

कैप्टेन किलनर के हाथ बेचा, बारह हजार में मेजर मउस-हउस को दिया, सात हजार ब्रिगेडियर ढसकस को सौंपा। इस तरह मेरे हाथ में रुपये आये और मैंने मोटर खरीदी। अब तुम्हीं बतला सकते हो कि इस मोटर से और चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त से कैसा गहरा सम्बन्ध है। अभी परसों फिर उस तलवार को आठ हजार में एडमिनिस्ट्रेटिव कमांडेंट मिस्टर सास को बेच रहा हूँ।"

बात तो बड़े अचम्भे की है। एक ही तलवार और पंडित ने तीन आदमियों के हाथ बेच दी। अब फिर एक चौथे आदमी को बेचनेवाले है। आश्चर्य से चकित होकर मैंने कहा—"पंडित जी, आपकी बात से मुझे मालूम होता है कि मेरा दिमाग सिलसिले में नहीं है। अगर एक बात पूछूँ तो बुरा न मानियेगा। मेरा कहना यही है कि चन्द्रगुप्त ने तो एक ही तलवार फेंकी थी और आपको चार कहाँ से मिल गईं?"

पंडित जी ने कहा—"इसमें अचम्भे की कोई बात नहीं है। जो लुहार चार तलवार बना सकता है वह पाँच तलवारें भी बना सकता है। मिस्टर सास के बाद मेरे पास एक तलवार और भी चन्द्रगुप्त की निशानी रह जायगी। किसी अमेरिकन को पकड़ कर उसे भी उसके गले मढ़ दूँगा। इस तरह की मेरे पास बहुत-सी चीजें है। सम्राट् कनिष्क की चुनौटी, गुरु गोरखनाथ की चिलम, समुद्रगुप्त का हुक्का, बाबर का पानदान, औरँगजेब की दँतखोदनी, शेरशाह के घोड़े का चारजामा...कभी चलकर मेरा संग्रहालय देखो तो तुम्हारी अक्ल ठिकाने आ जायगी। अगर किसी अमेरिकन को पकड़ लाओ

और कुछ माल निकाल दो, तो तुम्हें भी सैकड़े पचीस कमीशन दिया जायगा।"

अब सारा रहस्य समझ में आ गया। पंडित जी ऐसी चीजें बनवा लेते हैं और किसी अमेरिकन को फँसाकर उसके गले मढ़ देते हैं। यह पुरातत्त्व का रोजगार तो पंडित जी ने अच्छा खड़ा किया है। वे खरीदनेवाले भी समझते होंगे कि भारतीय इतिहास की बड़ी भारी सम्पदा हमने बटोर ली है।

मैंने पूछा—लेकिन आपने चाणक्य और चन्द्रगुप्त की जो कहानी सुनाई, वह भी तो ऐतिहासिक नहीं, मनगढ़न्त मालूम होती है।"

पंडित रुद्रदत्त मिश्र ने विरक्त होकर कहा—"तब तो मालूम होता है कि तुमने उस महापुरुष की उक्ति नहीं सुनी है?"

"कौन-सी उक्ति?"

पंडित जी बोले—"उस महापुरुष का वचन है कि भारतीय भाइयो, यह हम हैं जो भारतवर्ष के इतिहास को बना रहे हैं!"

सो पंडित जी भी भारतवर्ष के इतिहास को बना रहे थे!

परिवर्तित

जब सामने के सभी रास्ते टेढ़े-मेढ़े हैं, तो सीधा चलना तो ठीक और सुखद है; मगर चला जो नहीं जायगा। नरेश है सो यह बात नहीं मानता। उसके पास उसके अपने यूटोपियन खयालात हैं और उसीमें वह मस्त रहता है। मगर कुम्हलाती हुई मस्ती भी कोई मस्ती है? डंठल से फूल उतार लो, उसके अपने कँटीले अस्तित्व से उसे अलग कर दो

और फिर चाहो कि वह वैसा रसीला रहे, खिला खिलखिलाता रहे सो नहीं होगा। मगर नरेश को कौन समझावे ?

वह पढ़ा-लिखा है। बड़े-बड़े सिद्धांतों की बड़ी-बड़ी बातें करता है और बिल्कुल बेकार और बिल्कुल अकेला है। ऐसा आदमी स्वभावतः कम्यूनिज्म के सिद्धांतों को माननेवाला होता है। नरेश भी कम्यूनिस्ट है। वह जिन बातों पर विश्वास करता है, उनके संबंध में आपका मत-भेद हो सकता है। जैसे, सारी दुनिया कम्यूनिज्म के सिद्धांतों को अपनाने के लिए व्याकुल हो उठी है। वह समय शीघ्र आनेवाला है, जब हम अपनी एक नई दुनिया बना लेंगे। और उसके बाद 'यूटोपिया' का वृत्तान्त।

मगर दुनिया है सो दूसरी है। वह कम्यूनिज्म के मामूली सिद्धांतों को भी नहीं मानती। उन सिद्धांतों के नाम पर लोग उन्हीं सिद्धांतों को धोखा देकर आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं। मजे की बात है कि उन्हें उसी तरह सफलता भी मिलती है। और गंभीरतर सिद्धांत हैं, वे किसी की समझ में नहीं आते। नरेश को इससे चिढ़ होती है। नैराश्य और व्यथा से ऊबा हुआ वह आदमी दाँत किटकिटाकर सोचता है, इनका दिमाग सुअर के क्रीड़ास्थल से भी ज्यादा गंदा है। ये जल्दी सचाई को समझते क्यों नहीं ? सचाई को जहाँ पर समझते हैं, वहाँ भी उसी सत्य को धोखा देने में अपना कल्याण समझते हैं। इससे उनका तो कल्याण हो जाता है, मगर ये जो मुर्गी-मुर्गी की तरह अंडे-बच्चे छोड़ते जाते हैं, क्या उन असंख्य कीड़े-मकोड़ों का भी इसी तरह कल्याण हो सकता है ? आज तो वे हवन करके बच सकते हैं, मगर भविष्य में अपनी संतान का होम करके भी अपने वंश की प्रतिष्ठा नहीं बचा सकेंगे।

भले-भलों की मंडली में वह भलीभाँति तर्क करता हुआ इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि हम उन्हीं सिद्धांतों के माननेवाले हैं जो प्रकृति के अनुरूप और अपरूप हैं। मगर भले लोगों की मंडली कभी इसलिए नहीं बैठी है कि वे किसी सिद्धांत को स्वीकार करके उसीके अनुसार चलें। बातें हो जाती हैं, दिल बहल जाता है। उसके बाद इसकी क्या ज़रूरत कि नरेश क्या करता है और क्या खाता है? नरेश को इससे बहुत क्रोध मालूम होता है और वह अकेले में दाँत किटकिटाकर घूँसा तानता है—सब परले सिरे के हरामी हैं हरामी! सचमुच यदि नरक होता, तो ये वहीं असंख्य युगों तक पड़े रहते, सड़ते रहते।

और बाहरी सफलता न पाने पर वह भीतरी सफलता के मजे लेता है। अपनी सफलता पर वह संदेह नहीं करता, क्योंकि अपने सिद्धांतों पर उसे लेशमात्र भी संदेह नहीं है। उसे विश्वास है कि ये पास-पड़ोस-वाले, बड़े और छोटे कहलानेवाले सभी एक दिन उसके सामने सिर झुकावेंगे। उसका समय आवेगा। वह समय शीघ्र ही आवेगा। तब ये समझेंगे कि मैं क्या हूँ, तब वे समझेंगे कि वे क्या हैं। वह भीतर-भीतर इस कल्पना से बड़ा प्रसन्न होता है। नगरों का निर्माण भविष्य में किस प्रकार होगा? वह सोचने लगता है कि वह घरों का विभाजन किस प्रकार करेगा। खेती-बारी और सिंचाई का बंदोबस्त करने में उसे कितनी दिक्कतें उठानी पड़ेंगी। वह इसका भी नक्शा बना लेता है कि कौन-कौन-से कारखाने किनके जिम्मे दिए जायँगे और किस तरह चलाए जायँगे। और भी बहुत-बहुत-सी बातों को वह बहुत तरह से हल करता है और प्रसन्न होता है।

बड़ी-बड़ी बातों को सोचनेवाला आदमी छोटी-छोटी समस्याओं

को हल करने पर ध्यान नहीं दे सकता। उसका कमरा बिना झाड़ के रहता है। कोने में असंख्य बुझी हुई बीड़ियों और माचिस की तीलियों का ढेर पड़ा रहता है। उन्हीं बीड़ियों के धुएँ के साथ वह बड़ी-बड़ी बातों को हल किया करता है। कपड़े और बिस्तर मैले हैं या साफ़ हैं, इसकी उसने कभी परवाह नहीं की। दाढ़ी बढ़ी हुई है और जूते के ब्रश के समान दिखाई दे रही है, यह उसने कभी नहीं सोचा। जो सोचने की बात है, वह हमेशा सोचा करता है। इन छोटी-छोटी बातों को वह कभी तूल नहीं देता, दे भी नहीं सकता।

उसके स्वभाव में चिड़चिड़ापन है। सदा खिसियाया-सा बना रहता है। अपनी सेकंडहैंड किताबें जब किसी फेरीवाले के हाथ बेचता है तो बहुत ही गुस्से के साथ बात करता है। रोज़गार के नाम पर उसके पास एक बीमा-कंपनी की दलाली है। सो उसमें नरेश को सफलता नहीं मिलती। वह हर एक की हाँ में हाँ नहीं मिला सकता। उलटे अपनी बात में हाँ मनवाने के लिए उन्हीं के गले पड़ जाता है। बड़े-बड़े केस उससे नहीं फँसते। वह मुश्किल से ऐसे ही लोगों का बीमा कर सका है, जो उसके सिद्धांतों से प्रभावित होकर उसकी बात मान चुके हैं और जो लोग स्वयं दुनिया और समाज की परेशानी के चक्कर में हैं और प्राणपण से परित्राण पाने को छटपटा रहे हैं।

एक दिन क्या हुआ कि उस नरेश ने आप ही आप, बिना किसी तर्क और सबूत के, दुनिया के लोगों को हेय और मूर्ख समझ लिया। उसने तय कर लिया कि वह किसी मंडली में शामिल नहीं होगा, किसी से कोई तर्क नहीं करेगा, किसी से कोई बात भी नहीं करेगा।

और जैसे वह उसके लिए मुक्ति का एक दिन था। नरेश बड़ी देर

तक अपने कमरे में बैठा रहा और बीड़ियों पर बीड़ियाँ पीता रहा। उसके बाद वह उठा और अपने कमरे में झाड़ू देने लगा। मन लगा कर भलीभाँति कमरा साफ करने के बाद वह भी अपने को साफ, पवित्र और हल्का समझने लगा। जैसे बहुत दिनों के बाद उसका मन सेमर की रुई की तरह हल्का हो गया था और हवा में उड़ रहा था। टेबुल की दराज से उसने रुपए निकाले। उन्हें गिना। फिर गुनगुनाता हुआ वह किताब खरीदने के लिए कालेज-स्क्वायर की ओर चल पड़ा। उसने तय कर लिया था कि आदमी से बातें करने की अपेक्षा सद्ग्रंथों से बातचीत करना अधिक अच्छा, सुखद और कल्याणकारी होगा। जब वह सीढ़ियों पर से नीचे उतरा तो गुनगुना रहा था। जब वह ट्राम की रेलिंग पकड़कर चढ़ा तो मुस्कुराहट आप ही आप उसके होठों पर उमड़ी आती थी। ट्राम पर बैठे हुए तमाम लोगों की ओर देखकर उसने सोचा, मैं अब किसी से मिलना-बोलना नहीं चाहता। कंडक्टर आया तो उसने चुपचाप जेब से 'मंथली' निकाल लिया। कंडक्टर उस 'मंथली' को देखते ही निःशब्द, जैसे आया था वैसे ही, लौट गया।

दूकान पर पहुँचकर उसने कितनी तरह की कितनी किताबें खरीदीं। मोटी, पतली, बड़े साइज की, छोटे साइज की। गिनती में वे पचास से कम न होंगी। कौन-कौन-सी किताबें थीं, इन्हें जानने की जरूरत नहीं। जानकर ही क्या होगा? वे मनन करने की, सोचने और विचारने की और दुनिया के बड़े-बड़े सिद्धांतों की पुस्तकें थीं।

किताबें खरीदकर, व्यर्थ ही दूकानदार को बारंबार धन्यवाद देकर, वह 'यंगमेंस क्रिश्चियन एसोसिएशन' के रेस्तराँ में घुस गया। आज वह अकेला था, मगर बहुत ही खुश था। अकेला आदमी इस तरह प्रसन्नता

के अतिरेक में शायद ही देखा जाता है। ब्वाय को बुलाकर उसने खाने का बड़ा लंबा आर्डर दिया। मोगलाई परौठा, मोगलाई कोरमा, केक, टोस्ट, कटलेट, चाप, आइसक्रीम, चाय····हश्श, क्या आदमी है! खाने लगा तो इस तरह खाने लगा, गोया अपने नहीं अपने को तवाज़ा खिला रहा हो। बिल आया तो 'टिप' में अठन्नी फेंक दी और कुर्सी सरकाकर, किताबों का बंडल लेकर, उठ गया।

वह पुनः अपने कमरे में पहुँचा तो उसे लगा, मानों वह किसी नई जगह में बहुत दिनों के बाद पहुँचा है। बिछावन ठीक ढंग से बिछा हुआ था, टेबुल और कुर्सियाँ तरतीब से रखी हुई थीं। दीवार से लगा दर्पण चमचमा रहा था। जैसे उसे किसीने 'स्पिरिट' से पोंछकर साफ किया हो। किसने साफ किया है? उसीने तो। झाड़-बुहारू देने के बाद टेबुल, कुर्सियाँ सजा लेने के बाद, उसीने साफ किया था। ठीक-ठीक सब कुछ याद आ गया। नरेश को अचंभा होने लगा कि एकाएक वह इतना सुरुचि-संपन्न व्यक्ति कैसे हो गया है। तब उसे याद आया कि उसने संकल्प किया है कि एक अर्से तक वह आदमियों से न मिलेगा, न बोलेगा। उसने सद्ग्रन्थ खरीदे हैं। उन्हीं को पढ़ेगा और मनन करेगा।

जल्दी से उसने स्विच दबाया और उजाला हो गया। उसके बाद उन पुस्तकों की ओर वह इस तरह एक-एक करके उन्हें उलट-पुलटकर देखने लगा, जैसे कोई बालक अपने नए खिलौनों को देखा करता है।

और दूसरे दिन से अध्ययन शुरू हो गया। नरेश किताबें पढ़ता रहता है। लाल पेंसिल से किताबों में निशान लगाता है। मोटी-सी एक रफ बही है। उसमें फाउंटेन-पेन से नोट लिखता

है। शाम होती है, तो वह इस बात का हिसाब लगाता है कि वह अब तक कितना पढ़ गया। प्रतिदिन का औसत पाँच पृष्ठ भी नहीं पड़ता। विषय बड़ा गहन है। समझने के लिए बड़ी माथापच्ची करनी होती है। सिर में कुछ-कुछ दर्द भी हो जाता है। आँखों में जरा कुछ कमजोरी मालूम होती है। क्या जाने क्या बात है। आँखें विश्रांति चाहती हैं। मन बातचीत करना चाहता है। जो कुछ वह पढ़ रहा है और जो कुछ सोचकर वह नोट लिख रहा है, वह आखिर कितना ठीक है ?

मगर वह कमरे के बाहर जाना भी नहीं चाहता। किसीसे न मिलने-जुलने का तो उसने संकल्प ही कर लिया है। फिर वह आदमी ऐसा है, जो हमेशा इधर-उधर घूमकर सुकरात की तरह बहस करता फिरा है। मन है सो मानता नहीं।

होटलवाला ब्राह्मण दोनों जून थाली ले आता है और खिला-पिला-कर ले जाता है। वह भला इन गहन सिद्धांतों को क्या समझेगा ? नरेश उससे बातचीत करना पसंद नहीं करता। वह तो अपने बनाए हुए भोजन की तारीफ सुनना चाहता है और नरेश इस मामले में बड़ा कृपण है। वह किसीकी तारीफ नहीं कर सकता।

उसे थोड़ी-बहुत घबराहट होती है। वह चाहता है कि पढ़ना छोड़कर वह उठ जाय और जहाँ तक चल सके, जिधर-तिधर चलता रहे। चलता रहे, चलता रहे·····और कुछ नहीं। किले के मैदान में भीड़ लगी होगी। बच्चे खेल रहे होंगे। भ्रू की प्रत्यंचा को रंग से सँवारे, गालों में पाउडर लगाए, रंग-बिरंगे फ्राक पहने, पुतलियों की तरह यूरोपियन और एंग्लो-इंडियन छोकरियाँ चौरंगी पर चल रही होंगी। बेहला की ट्राम जा रही होगी। वह तो बड़ी

दूर तक जाती है।.....ऊँ हूँ, मगर नरेश कहीं नहीं जायगा। बैठा रहेगा, पढ़ता रहेगा, सोचता रहेगा। जीवन एक निमित्त मात्र है। यह तो मनुष्य के हाथ है कि वह अपने जीवन को सार्थक करे या फिर यों ही जैसे-तैसे बिताकर समाप्त कर दे।

कमरे भर में देखने के लायक अगर कोई चीज है, तो एक वही आईना है। बड़े साइज का आईना है। उसमें नरेश की छाया भली भाँति प्रतिफलित होती है। सिर से लेकर कमर तक समूचा दिखलाई देता है; साफ। बेलजियन आईना है। बड़ा सुन्दर। किनारे-किनारे की नक्काशी भी बड़ी अच्छी है।

मगर इधर दो-तीन दिनों से न जाने क्या बात होती है। नरेश की दृष्टि जब आईने में जाती है और वह अपनी छाया देखता है, तो पहली दृष्टि में अपने-आपको पहचान नहीं सकता। क्षण-दो-क्षण की देर जरूर हो जाती है। न जाने क्या भेद है। शायद उसकी आँखों की ज्योति मद्धिम हो रही है। शायद उसकी दाढ़ी रोज-रोज बढ़ रही है। हाँ, यही बात है। बढ़ने दो दाढ़ी। कहाँ तक बढ़ेगी? सभी बड़े आदमी दाढ़ी रखते थे। कार्लमार्क्स, टाल्सटाय, रवींद्रनाथ, प्रिंस क्रोपाटकिन। लेनिन भी दाढ़ी रखता था।

इसी तरह नरेश ने कई किताबें पढ़ीं। लेनिन की पुस्तकें, त्रात्स्की के ग्रन्थ, तब फिर उसने कार्लमार्क्स का 'कैपिटल' निकाला, और पढ़ने लगा। बड़ा गहन ग्रन्थ है। उलझन पर उलझन; मोटी-मोटी बातों की भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बातें। सुलझाव कहीं नहीं दिखलाई देता। नरेश ने जितना जाना है, सबके बाद भी जानने के लायक बड़ी-बड़ी और नायाब बातें निकलती जाती हैं। निकलती जाती हैं और उनका अंत नहीं

होता। कार्लमार्क्स कितना महान् था? धन्य कार्लमार्क्स! जिन बातों को आदमी बड़ी माथा-पच्ची से भी सोचकर नहीं समझ सकता, उसी बात को उन्होंने कितने सहज ढंग से 'कैपिटल' में लिख दिया है। तभी तो यह पुस्तक राजनीतिज्ञों, साम्यवादियों के लिए गीता के समान पूजनीय है। तभी तो कार्लमार्क्स महान् है!.....

वह घंटों तक कार्लमार्क्स की जीवनी के बारे में सोचता रहता। वह सिगरेट नहीं पीता था, चुरुट पीता था। नरेश ने भी चुरुट पीना शुरू किया। पहले चुरुट पीना उसे कड़ुआ मालूम होता था, लेकिन अब उसमें उसे एक सोंधापन मिलने लगा। हाँ, जब चुरुट इतनी अच्छी चीज है, तो आदमी सिगरेट क्यों पिए? उसके बाद एक दिन वह खोजने लगा कि उसके पास कोई काला कोट है या नहीं। काला कोट वह इसलिए पहनना चाहता था कि कार्लमार्क्स की तस्वीर भी उसने ऐसी ही देखी थी। एक ऐसा कोट उसके पास था, लेकिन जँचा नहीं। तब वह उसी दिन एक दर्जी की दूकान में चला गया और आर्डर देकर चला आया। कह गया, मैं पढ़ने-लिखने में बेतरह फँसा हूँ, इसलिए कोट की 'डेलिवरी' लेने नहीं आ सकूँगा। डेलिवरी मेरे डेरे पर ही होनी चाहिए।

कई दिन बाद उसी ढंग का काला कोट सिलकर आ गया। तब तक 'कैपिटल' पढ़ते-पढ़ते उसका दिमाग भारी हो गया था। उसने भी तफ़रीह के लिए एक उपन्यास पढ़ना शुरू कर दिया था। कैपिटल तो सिर्फ एक बार पढ़ने की चीज नहीं, बार-बार पढ़ने की चीज है। पाँच बार वह पढ़ चुका है, अभी उसे बहुत बार पढ़ना बाकी है। उपन्यास पढ़ने में नरेश का मन नहीं लगता। वह तो कैपिटल की बातें ही

सोचने में मस्त रहता है। उसे तो यह भी याद नहीं कि उस उपन्यास का नायिका का नाम मार्गरेट था या मर्था। मगर वह अपने को धोखा देता जाता है कि उपन्यास उसे रुच रहा है और वह उसे पढ़ रहा है! मगर चाहे वह कुछ भी पढ़ रहा है या कुछ भी सोच रहा है, उसके बीच में बिजली की तरह 'कैपिटल' की कोई एक बात कौंध जाती है। फिर उपन्यास खुला रहता है और नरेश कैपिटल की उस गहन उलझन में उलझ जाता है। बहुत देर तक वह दृष्टि स्थिर किए सामने की ओर देखता हुआ, उस बातको सुलझाता रहता, सोचता रहता, सोचता रहता। अंत में वह कार्लमार्क्स के असाधारण तत्त्वज्ञान पर मुग्ध होकर कह उठता 'धन्य हो कार्लमार्क्स!' फिर कार्लमार्क्स की जिन्दगी की कुछ घटनाएँ उसे याद आने लगतीं।.....धन्य था वह आदमी, धन्य थी उसकी जिन्दगी, धन्य था उसका अगाध चिन्तन।

फिर बड़ी देर के बाद वह उपन्यास पढ़ने की ओर मन लगाता और असफल होता। मर्था ने कहा.....यह मर्था कौन? नायिका? नहीं-नहीं, नायिका तो मार्गरेट थी। उँहूँ, नायिका मार्गरेट भी नहीं, मर्था भी नहीं, वह तो एलिजाबेथ थी। उसका क्या हुआ? पिछले परिच्छेद में मैंने क्या पढ़ा था? कुछ भी याद नहीं आता। कार्लमार्क्स भी ऐसा ही भुलक्कड़ था। ऐसी छोटी-छोटी भूल तो उसके जीवन में हर जगह भरी पड़ी थी। बड़ा विचित्र आदमी था। सिगरेट से सिगार सस्ता मिलता था, तो वह भी ज्यादा से ज्यादा सिगार पीने लगा। सोचने लगा, जितना ज्यादा सिगार पिएँगे, उतना ही ज्यादा पैसा बचा सकेंगे। भला-भला! .....पैसा बचा सकेंगे!..ज्यादा पीने से?.....

नरेश ठठाकर हँस उठा। उसकी हँसी उसके उस बंद कमरे में बार-बार प्रतिध्वनित होने लगी।

वह और भी जोर से ठठाकर हँसा, जैसे गिरती हुई लहरों पर उछलती हुई लहरें उमड़ने लगती हैं। क्या कार्लमार्क्स भी ऐसा ही हँसता होगा ?·····क्या जाने, कौन जाने !·····

एक दिन दोपहर के समय पढ़ते-पढ़ते नरेश ने अपने दर्पण की ओर आँखें उठाईं, और चौंक उठा। दर्पण में उसका जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, वह तो उसका नहीं। वह कौन आदमी है ? वह कौन है ? पहचाना हुआ आदमी मालूम होता है। नरेश ने उसे कई बार देखा है, कहाँ देखा है, यह ठीक-ठीक याद नहीं आता।

गौर से देखा, फिर गौर से देखा, देखा और फिर देखा। उसने अपना हाथ उठाया। दर्पणवाले व्यक्ति ने भी हाथ उठाया। उसने अपना हाथ गिराया। दर्पणवाले व्यक्ति का हाथ भी गिरा। उसकी आँखें एकटक स्थिर थी। कौन आदमी है ? उसे मैंने कहाँ देखा था ? कब देखा था ? कब देखा था ?·····आदमी तो पहचाना हुआ जरूर है।

यह बड़ा अच्छा शगल निकल आया। नरेश ने उसे देखना शुरू किया और याद करना शुरू किया। इसे कहाँ देखा था और कब देखा था ?

फिर पढ़ना शुरू किया।·····पढ़ने में मन नहीं लगता।····· नोट लिख लें।·····लेकिन नोट-बही पर कलम अचल खड़ी है। वही आदमी याद आ रहा है। कौन आदमी है ?··नरेश ने दर्पण की ओर देखा। वही आदमी था। तुम्हें मैंने कब देखा था ?·····

नरेश ने सिगार निकालकर सुलगाया। दर्पणवाले व्यक्ति ने भी उसी

तरह सिगार निकाला और उसी तरह सुलगाया। हाँ, हाँ, इस आदमी को नरेश ने कहीं जरूर देखा है। बहुत देर तक इससे बातचीत भी की है। नरेश सोचने लगा कि उसे कब देखा था और क्या बातचीत की थी? कुछ याद नहीं आया। सिर्फ यही याद आता रहा कि वह भी इसी तरह सिगार पीता था, बिल्कुल इसी तरह।

'''याद नहीं आता, तो न आए याद। सुनते हो जी, नरेश ने उस दर्पणवाले व्यक्ति से कहा, तुम पहचान में नहीं आना चाहते, तो न आओ। मुझे भी जरूरत नहीं। अभी मेरे लिए बहुत-सा पढ़ना-लिखना बाकी है। दर्पणवाले व्यक्ति ने भी उसी प्रकार सिर हिलाया और मुस्कुराकर चुप हो गया। नरेश ने उसे एक मिनट और देखा, और देखा कि सचमुच पहचाना हुआ आदमी है, मगर बिल्कुल पहचान में नहीं आता।

उसके बाद महान् ग्रन्थ कैपिटल। नरेश पढ़ रहा है, पढ़ रहा है, सोच रहा है, सोच रहा है। बीच-बीच में याददाश्त के लिए नोट भी लिख लेता है। कार्लमार्क्स ने प्रकृति के किसी रहस्य को अछूता नहीं छोड़ा। सब कुछ से उसने साम्य का सिद्धांत स्थापित किया। वह साम्य प्रकृति के नियमों का साम्य है। ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। कार्ल-मार्क्स हुए बिना कार्लमार्क्स को पूरी तरह समझना भी तो कठिन है। उसके निकाले हुए नियम प्रकृति के नियम हैं। जहाँ प्रकृति के नियम हैं वहाँ फिर और किसी वैषम्य का सवाल ही नहीं उठता।

बड़ी देर तक वह पढ़ता रहा, सोचता रहा। इस बीच वह उस दर्पणवाले व्यक्ति को भूल गया था। उसके बाद जो उसकी दृष्टि दर्पण

पर गई तो उसने सहसा उस व्यक्ति को पहचान लिया। यह तो कार्ल मार्क्स है !····अरे वाह !·····

वह मुस्कुराया और कार्लमार्क्स की ओर आदर से देखने लगा कार्लमार्क्स ने भी उसी तरह मुस्कुराकर उसकी ओर स्नेह से देखा नरेश ने कार्लमार्क्स के आगे सिगार बढ़ाया तो उसने भी उसी तर सिगार बढ़ाया। नरेश ने कहा, हमारे-तुम्हारे बीच में केवल एक दर्प का अंतर है। मैं तुम्हें देख सकता हूँ, तुम मुझे देख सकते हो ; मग व्यवधान दूर नहीं हो सकता। खैर, मुझे तुमसे बहुत-सी बा पूछनी हैं !·····

नरेश आश्वस्त होकर सिगार पीने लगा। कार्लमार्क्स भी उस तरह सिगार पीने लगा। उसके चेहरे पर भी शांति थी।

उसके बाद नरेश सोचा करता था और कार्लमार्क्स से प्रश्न पर प्रश्न पूछा करता था। उसे मालूम होता था कि कार्लमार्क्स उसकी प्रत्येक बा को ध्यानपूर्वक सुनता है और गंभीरतापूर्वक उसके सवालों का जवाब दे रहे हैं। बहुत तरह की बहुत-बहुत-सी बातें। सवालों का अंत नहीं, जवा की कमी नहीं। नरेश तीन-चार दिन तक बड़ा उद्विग्न रहा। कार्लमार्क से बातें करते हुए उसे बड़ी दिक्कत मालूम होती थी। मस्तिष्क के तंतु पर बहुत जोर पड़ता था। वह बहुत जल्दी थक जाता था और कार्ल मार्क्स से कहता था, मैं थकावट मालूम कर रहा हूँ ; जरा मैं आरा कर लूँ। इजाजत है न ?

कार्लमार्क्स निश्चिन्त होकर कहता था, हाँ-हाँ आराम कर लो। सारी चीजें ऐसी नहीं हैं जो एक दिन में ही जानी-बूझी जा सकें औ आदमी फौरन् किसी निष्कर्ष पर पहुँच जाय।

दर्पण के अंदर का कार्लमार्क्स बिल्कुल एक पृथक् व्यक्ति मालूम होता था। वैसी ही अलग हरकतें करता था। नरेश चाहे चलता रहे, फिरता रहे, कुछ भी करता रहे; लेकिन कार्लमार्क्स ज्यों का त्यों बैठा रहता। वह जीवित प्राणी-सा था और अपना व्यक्तित्व नरेश से अलग रखता था। छिप-छिपकर कई बार नरेश ने यह देखने की कोशिश की थी कि उसके अनजानते में कार्लमार्क्स क्या किया करता है। तब उसने भलीभाँति यह देखा कि उसके अगोचर में भी कार्लमार्क्स की पलकें हिलती रहती हैं। कभी वह सिर हिलाता है, कभी दाढ़ी पर हाथ फेर लेता है। दोपहर के समय की गर्मी में वह अँगड़ाई लेकर कह उठता, बड़ी गर्मी है यहाँ, ऐसी गर्मी का मुझे अनुभव भी नहीं! उसकी आवाज नरेश की आवाज से बिल्कुल विभिन्न थी। वह नरेश की तरह जल्दी-जल्दी नहीं बोलता था।

चार-पाँच दिन के बाद एक दिन सवेरे नरेश सोकर उठा तो उसे अपने दर्पणवाले व्यक्ति की याद भूल गई थी। वह आईने के सामने आया और उसे मालूम भी नहीं हुआ कि वहाँ वह किसी दूसरे का प्रतिविम्ब देख रहा है। कंघी से उसने बाल सँवारे। दाढ़ी को भी कंघी और ब्रश की मदद से सुलझाया। उसके बाद कोट पहनकर एक बार फिर से आईने के सामने आया। उसके चेहरे पर संतुष्टि थी और वह बिल्कुल शांत मालूम होता था। फिर किवाड़ बंद करके वह एक बुजुर्ग और गंभीर आदमी की तरह सीढ़ियों से नीचे उतर गया।

ट्राम पर वह चौरंगी तक गया था। उसके बाद वह भवानीपुर जानेवाली ट्राम की ओर बढ़ रहा था कि किसीने पीछे से पुकारा—"नरेश!"

नरेश के कानों में वह पुकार पहुँचकर भी नहीं पहुँची। उसने सुना ही नहीं।

उस आदमी ने आकर नरेश का हाथ पकड़ लिया—"नरेश! तुमने तो अपना हुलिया ही बदल डाला। कहाँ थे इतने दिनों तक?"

नरेश ने अपना हाथ छुड़ाकर एक भले आदमी की तरह जवाब दिया—"महोदय, आप भूलते हैं; मेरा नाम नरेश नहीं है। मैं कार्ल-मार्क्स हूँ।"

"कार्लमार्क्स तो तुम होगे ही। दिमाग खराब कर लिया है क्या? पहले ही तुम्हें कहता था कि इतना कार्लमार्क्स-कार्लमार्क्स न किया करो। मगर हमारी सुनता कौन है? सुनो नरेश, दुनिया में बकबक बड़ी चीज नहीं है, साहस और कर्म बड़ा है। प्रत्येक चीज का समय आता है। तब तक तुम हजार कार्लमार्क्स किया करो, कोई नहीं सुनेगा। अब वह न हुआ, तो तुमने स्वयं कार्लमार्क्स होने की ठान ली। भई वाह, खूब दिमाग खराब किया है तुमने। अगर नींद न आती हो, तो दवा खाकर सो जाओ। दो-तीन दिन में आपसे आप ठीक हो जायगा।

नरेश ने उसी तरह सज्जनतापूर्वक उन्हें समझाया—"महोदय, आप से सचमुच भूल हो रही है। आपने जिस आदमी का नाम लिया, वह मैं नहीं हूँ। मेरा नाम कार्लमार्क्स है। आपने मेरा नाम अवश्य सुना होगा। मैं संसार के बड़े आदमियों में गिना जाता हूँ।"

"हाँ-हाँ, आप संसार के बड़े आदमियों में क्यों न गिने जायँगे; आप तो संसार के सबसे बड़े पागलों में गिने जायँगे। चलिए-चलिए मेरे साथ इधर आइए। खुद भी परीशान हुए, मुझे भी परीशान किया..... नरेश!....."

"महोदय, क्या अब भी आपको विश्वास नहीं होता ? मैं नरेश नहीं, मैं कार्लमार्क्स हूँ।"

'हाँ, कार्लमार्क्स ! कार्लमार्क्स साहब, चलिए न मेरे साथ। आइए इधर। जरा डाक्टर विमलेंदु के यहाँ चलें। वह आपसे मिलकर बड़ा प्रसन्न होगा।'

कार्लमार्क्स ने प्रसन्न होकर कहा—"मालूम होता है कि वे मेरे सिद्धांतों का मनन किया करते हैं। मैं ऐसे लोगों से मिलना बहुत पसंद करूँगा। उनसे मैं स्वयं अपने सिद्धांतों के संबंध में बातचीत करूँगा। भारतीय लोगों के अंदर मेरे संबंध में काफी मतभेद है। मैं उसे दूर करना चाहता हूँ।"

और नरेश उस व्यक्ति के साथ चलने लगा। महीनों बीत गए।

नरेश को बड़ी तकलीफ थी। लड़के उसे चिढ़ाते थे। कोई उससे बात करना भी पसंद न करता था। वह बड़े उत्साह के साथ लोगों के पास बातचीत करने के लिए जाया करता था ; लेकिन लोग नौकरों को हुक्म देते थे—'खिलापिलाकर इस पगले को पार लगाओ !'

वह अजायबघर के विशाल बरामदे में सोता था और दिनभर चक्कर काटता था। जिस किसीसे वह मिलता, उसीसे साम्यवाद के गूढ़ सिद्धांतों की बातचीत छेड़ देता और कार्लमार्क्स कहकर अपना परिचय देता।

मगर इससे कोई लाभ नहीं था। लोगों की प्रवृत्ति ऐसी नहीं जो सत्य को स्वीकार करें। जिस प्रकार लोग अपूर्ण सत्य को स्वीकार नहीं कर सकते थे, उसी प्रकार कार्लमार्क्स के संपूर्ण सत्य को भी एकदम अस्वीकार कर देते थे। स्वयं कहनेवाला कार्लमार्क्स

एक मजाक की चीज समझा जाता था। इससे नरेश को दुःख—कष्ट नहीं मालूम होता था, एक प्रकार की थकावट-सी मालूम होती थी। वह थक जाता था और रात-रातभर टिमटिमाते तारों की ओर देखता हुआ याद करने की कोशिश करता था कि जैसे उसे क्या करना है, जैसे उसे किसी खास और अनजान जगह में जाना है। वह भटके और थके हुए यात्री की तरह शिथिल रहने लगा। वह जितना ही अधिक शिथिल रहने लगा, उतनी ही अधिक उसकी शिथिलता बढ़ने लगी। बिना खाए-पिए वह शिथिल और निश्चेष्ट अजायबघर के आसपास पड़ा रहता। इस घोर शिथिलता में वह अक्सर अनुभव करता था कि वह सो रहा है; लेकिन जब वह जागना चाहता, तो उसे मालूम होता कि उसकी आँखें नींद में भी बंद नहीं होतीं। सचमुच नरेश की आँखें लाल रहती थीं, मगर उसका चेहरा विशेष भयावना नहीं मालूम होता था।

धीरे-धीरे उसे मालूम होने लगा कि उसकी शिथिलता अब सीमा पर पहुँच रही है। अब लेटा नहीं जाता, अब बैठा भी नहीं जाता। तब एक दिन वह उठ गया और चलने लगा। बदहवास की तरह खूब इधर-उधर घूमता रहा। उस समय वह बड़ी तेजी से चल रहा था। ऐसा लगता था, मानो वह किसी चीज से जान छुड़ाकर किसी आश्वस्ति की जगह पर पहुँचना चाहता है। वह लोगों की भीड़ में धक्के देकर निकल जाता था। गाड़ियों के आ जाने पर भी वह सामने से नहीं हटता था। इसी तरह वह कई दिनों तक घूमता रहा और चक्कर काटता रहा···

तीन-चार दिन के बाद वह बिल्कुल थक गया और डलहौसी स्कायर के निकट एक आफिस के सामने की बेंच पर बैठ गया। इस समय वह शांत और स्थिर मालूम होता था। क्या तबीयत आई कि वह

नोटिसबोर्ड पर टँगे हुए नोटिसों को पढ़ने लगा—"गिरिडीह में इस कंपनी का एक ब्रांच आफिस बननेवाला है ! ठीकेदारों को चाहिए कि उसका टेंडर भेजें। जीवन प्रसाद वर्मा इस कंपनी से अलग हो गए। ग्राहकों और व्यापारियों को आगाह किया जाता है कि इस कंपनी के नाम पर उनसे किसी तरह का भी व्यवहार न रखें। अंगरेजी की लियाकत रखनेवाले एक ऐसे इन्सपेक्टर की जरूरत है, जो एजेंटों को उत्साहित करके कंपनी का काम आगे बढ़ा सके। १२५) वेतन के अलावा सेकेंड क्लास का भाड़ा तथा दो रुपए रोजाना भत्ता।"····नरेश चौंक उठा। ऐसा ही एक काम तो वह कब से खोज रहा है। अपनी खुशी को वह रोक न सका। फौरन चपरासी के पास जाकर बोला—साहब से बोलो, एक आदमी नौकरी के लिए आया है।

चपरासी ने अपनी हथेली पसारी—"कार्ड ?"

"नहीं है।"

"नाम ?"

"नरेंद्रकुमार सिंह।"

इस नाम के अलावा उसे अपना और कोई नाम याद ही न आया, वह अपना यही नाम जान रहा था। चपरासी को जाने से रोककर नरेश ने कहा—"साहब से कहना, एम०ए० पास हैं और अंगरेजी की काफी लियाकत रखते हैं—समझे ?"

चपरासी ने कहा—जी ! और साहब के पास चला गया।